वर्ण-व्यवस्था और अछूत



स्वा[illegible] किरण ११८४-११८५

लेखक—

श्री किशोरीदास वाजपेयी शास्त्री

श्यामसुन्दर-निबन्ध-माला—१

वर्ण व्यवस्था और अछूत

लेखक
श्री किशोरीदास वाजपेयी शास्त्री

प्रकाशक
सुन्दर-साहित्य-सदन
बीकानेर (राजपूताना)

प्रथमावृत्ति] १९२१ [मूल्य ।) आने

मुद्रक—जीतमल लूणिया,-सस्ता-साहित्य प्रेस, अजमेर

स्मृति

जिस की स्मृति में यह नन्ही-सी निबन्ध-माला निकाली गयी है, वह सिर्फ सवा दो वर्ष का नन्हा स्वर्गीय बालक श्यामसुंदर है। इसका उदय विक्रम संवत् १९८३ के आश्विन मास में कृष्ण पक्ष पंचमी की रात को एक बजे हुआ था और पौष कृ० ११ विक्रम संवत् १९८५ के दिन सन्ध्या समय छः बजे यह अस्त हो गया! इस के गुण और बुद्धि-वैभव की यदि दो-चार बातें भी यहाँ लिखूँ, तो वे अप्रासंगिक-सी जँचेंगी और उन्हें मेरे भाई अत्युक्ति ही समझेंगे, जिन्होंने कभी ऐसे बालक को देखने का अवसर नहीं पाया है। अतएव अधिक कुछ लिखना व्यर्थ है। हाँ, थोड़े में इतनी बात है कि इसमें ऐसे लक्षण, गुण और बुद्धि-चमत्कार थे, जिन्हें देख कर सभी कहते थे कि यह संसार का भावी कोई महापुरुष होगा! दैव को यह मंजूर नहीं था!

प्यारे श्यामसुन्दर को छोटी-छोटी पुस्तकों से बड़ा प्यार था। उसने कुछ पुस्तकें अलग आलमारी के खाने में सजा रखी थीं। सोते समय भी वह पुस्तक को छाती पर रख कर सोता था!

श्यामसुन्दर! तुम्हारी ही आत्मा को प्रसन्न करने के लिए और अपने मन को बहलाने के लिए मैंने इस निबन्धमाला को निकालने का निश्चय किया है, जिस का यह पहला फूल है। लो, इससे खेलो, पढ़ो और सँभाल कर रखो।

सन्तप्त

निवेदन

आजकल बहुत से लोग यह कहते सुने जाते हैं कि हिन्दुओं की वर्ण-व्यवस्था ने ही भारत को चौपट किया है ! इन बन्धुओं से और कुछ अधिक न कह कर प्रसिद्ध इतिहासज्ञ, महामहोपाध्याय श्री गौरीशंकर हीराचन्दजी ओझा की सम्मति ही यहाँ उद्धृत किये देता हूँ:—

"प्राचीन काल में भारत बहुत सुखी और सम्पन्न देश था। इसमें न वह ग़रीबी थी, जो आज है और न वे दुःख, महामारियाँ थीं, जो आज हमें सता रही हैं। प्राचीन सुख-सम्पत्ति के कई कारणों में तात्कालिक सामाजिक संगठन भी एक मुख्य कारण था। पहले सारा हिन्दू-समाज चार वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र-में बँटा हुआ था। चारों वर्ण अपना-अपना कार्य करते थे। शूद्र अस्पृश्य नहीं समझे जाते थे।"

—गौरीशंकर हीराचंद ओझा

हमारे जात-पाँत तोड़क बन्धुओं को इन पंक्तियों पर विचार करना चाहिए।

इस विषय में यहाँ अधिक कहने की जरूरत नहीं, क्योंकि आगे इन्हीं बातों पर विचार किया गया है। आर्यों की वर्ण-व्यवस्था 'माधुरी' के वैशाख तथा आषाढ़ (१९८५) के अंकों में और 'कुछ अछूत सन्त और भक्त' 'चाँद' के अछूताङ्क में निकला था। ये दोनों लेख लोगों को बहुत अच्छे मालूम हुए और वर्तमान काल में इनके पुनर्मुद्रण की आवश्यकता समझी गयी, अतएव इन्हें पृथक छपाया गया है।

विनीत—
किशोरीदास वाजपेयी

वर्ण-व्यवस्था और अछूत

आर्यों की वर्ण-व्यवस्था

"वर्णाश्रम-धर्म के नियम का पता सत्य की निरंतर खोज का अत्यंत सुन्दर परिणाम है।"—महात्मा गांधी

प्राचीन आर्यों की वर्ण-व्यवस्था चाहे श्रम-विभाग के सिद्धान्त पर बद्धमूल हो और चाहे लोक-मनःप्रवृत्ति पर निहित हो, पर वह है सर्वथा संसार में अपने ढंग की एक अनूठी समाज-संगठन की कल्पना। इस बात को प्रायः सभी विद्वान् एक स्वर से स्वीकार कर चुके हैं, जिनमें पाश्चात्यों की संख्या भी कुछ कम नहीं है। मन की प्रवृत्तियों के मुख्य चार विभाग करके लोक को उसी के अनुसार चार विभागों में विभक्त किया गया था। अवश्य ही इस शृंखला के कारण इन लौकिक प्रवृत्तियों में लोकोत्तर उन्नति संभावित है, जो प्राचीन-काल में, इसी भारत-वसुंधरा में, चरम सीमा को पहुँच गई थी। बाप की प्रवृत्ति जिस ओर है, और उसके अनुसार वह जिस काम को करता है, अगर उसका लड़का भी उसी प्रवृत्ति का होकर उसी काम की ओर झुकेगा, तो इसमें संदेह नहीं कि वह उस काम में अधिक उन्नति करेगा—कम-से-कम अपने पिता से तो कुछ आगे

अवश्य ही बढ़ेगा। इस प्रकार बढ़ते-बढ़ते धीरे-धीरे वह काम वहाँ तक उन्नत हो जायगा, जहाँ तक उसकी अंतिम सीमा है। वर्ण-व्यवस्था का यह एक मुख्य लाभ है।

आर्यों ने वर्ण-व्यवस्था में इस प्रकार समाज को मुख्य चार भागों में विभक्त कर दिया था। वे चारों अपने-अपने काम करते थे। परन्तु यह बात न थी कि वे दूसरे कामों की ओर झुकें ही न। समय पड़ने पर क्षत्रियों के साथ ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र भी तलवार पकड़कर अपने धर्म और देश के शत्रुओं के छक्के छुड़ाते थे। आवश्यकता पड़ने पर शूद्रों के साथ ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य भी अपनी शिल्प-कला में संलग्न होते थे। जब काम पड़ता था, तब वेदों और शास्त्रों के अभिरक्षण में क्षत्रिय आदि सभी आर्य ब्राह्मणों का साथ देते थे। तात्पर्य यह कि वर्ण-व्यवस्था मुख्य प्रवृत्ति के अनुसार थी। यों तो संसार के प्रत्येक मनुष्य में सभी प्रकार की प्रवृत्तियाँ थोड़े-बहुत रूप में होती हैं, पर, एक प्रवृत्ति की ओर आधिक्य अवश्य होता है। यह भी निश्चय है कि पिता की प्रवृत्ति जिस ओर होती है, पुत्र की भी प्रायः उसी ओर होती है। इसके अपवाद भी कुछ हो सकते हैं। पर मुख्य बात यही है। वे अपवाद इस मुख्य सिद्धान्त में धक्का लगाकर इसे पलट नहीं सकते—उनकी मात्रा अत्यंत न्यून होती है। ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न परशुराम में आवश्यकता-वश क्षात्र-धर्म की ओर अधिक प्रवृत्ति होना और क्षत्रिय जनक में संस्कार और अभ्यास के कारण ब्राह्मण-सुलभ अध्यात्म-विद्या की पराकाष्ठा पर पहुँचना ऐसे ही अपवाद हैं। फिर भी, लोक में जनक क्षत्रिय और परशुराम ब्राह्मण नाम से ही प्रसिद्ध होंगे। इसका कारण

यह है कि उनका जन्म उन-उन वर्णों में हुआ था और उन वर्णों की, उनकी मुख्य प्रवृत्ति के अनुसार, वे वे संज्ञाएँ थीं। सब जगह प्रधानता से व्यपदेश होता है। एक गाँव में सौ घर ब्राह्मणों के हों और बीस घर इतर वर्णों के, तो सब कोई उसे "ब्राह्मणों का गाँव" ही कहेंगे। और, यदि किसी गाँव में सौ घर वैश्यों के और बीस ब्राह्मण आदि इतर वर्णों के, तो उस गाँव को लोग "वैश्यों का गाँव" कहकर पुकारेंगे। इस प्राधान्य व्यपदेश की कोई दवा नहीं है। इस व्यपदेश से कुछ हानि भी नहीं दीख पड़ती। फिर इसके विरुद्ध उछल-कूद मचाने में न जाने क्या लाभ है?

वर्ण-व्यवस्था के लाभ ऐसे छिपे हुए नहीं हैं कि इस लेख में उनका खुलासा करके हम अपना और पाठक सज्जनों का समय व्यर्थ बरबाद करें। यहाँ पर हम केवल उन आक्षेपों पर, संक्षेप में, दृष्टि डालना चाहते हैं, जो प्रायः वर्ण-व्यवस्था के विरोधी समय-समय पर किया करते हैं।

वर्ण-व्यवस्था और अछूतपन

लोगों का कहना है कि जब तक किसी देश में कोई मानव-वर्ग अछूत कहकर पद-दलित किया जाता है, तब तक देश को स्वातंत्र्य-सुख परम दुर्लभ है। यह बात ध्रुव सत्य है। जापान हमारे सामने है। जब तक वहाँ प्रजा-वर्ग के एक टुकड़े को अछूत कहकर दुतकारा और दुर्दुराया जाता रहा, तब तक उस देश की अत्यंत दयनीय दशा रही और जब से इस राक्षसी भाव को दूर भगाकर उस देश के निवासियों ने उन पद-दलित अछूत कहाने

वाले जनों को गले लगाकर सब तरह से उन्हें साम्य दिया, तभी से जापान दुनिया में चमका। भारत बिलकुल उस जापान की तरह है, जहाँ किसी समय मनुष्यों को कुत्ते-बिल्ली से भी बुरा समझा जाता था और उनके साथ कठोरतम व्यवहार किया जाता था। सच तो यह है कि हमारा दुर्दैव-चर्वित भारत उस समय के जापान से कई गुना अधिक भयावह है। यहाँ के करोड़ों मनुष्यों का, जो हम कुत्ते-बिल्ली से भी बुरा अपमान कर रहे हैं, उसके लिए ईश्वर के पुनीत दरबार से कभी हमें क्षमा नहीं मिल सकती। यह घोरतम पाप है। हमें शीघ्र इससे बचने की चेष्टा करनी चाहिए।

अछूतपन की इस पाप-सृष्टि का भार हमारे कुछ भाई वर्ण-व्यवस्था के सिर पर फेंक रहे हैं! उनका कहना है कि जबतक इस वर्ण-व्यवस्थाका विध्वंस न हो जायगा, तब तक भारत से अछूतपन मिट नहीं सकता; क्योंकि इस वर्ण-व्यवस्था ने ही इस पाप को फैलाया है। जब तक निदान—आदि कारण दूर न किया जायगा, तब तक रोग दूर नहीं हो सकता, चाहे कितनी भी चिकित्सा क्यों न की जाय। यदि किसी रसायन औषध द्वारा रोग कुछ काल के लिए कुछ परिमाण में दब भी गया, तो फिर भी वह समय पाकर भभक निकलेगा और फिर उससे बहुत ज्यादा क्षति होगी। इसलिए आवश्यक है कि अछूतपन की जननी इस वर्ण-व्यवस्था को पहले नष्ट किया जाय। यही अछूतपन की निदानभूत है और रोग दूर करने के लिए "आदौ निदानं परिवर्जयेत्" का सिद्धांत प्रसिद्ध ही है।

हमारे भाई भूलते हैं। वे पाश्चात्य चश्मा लगाकर अपने

देश को देख रहे हैं। उन्हें सब कुछ और का और ही नज़र आ रहा है। उन्हें उचित है कि भारत को देखने के समय वह पाश्चात्य चश्मा उतार कर रख दें। इस देश की सभ्यता में और देशों से बहुत कुछ अंतर या विशेषता है, इसे सदा ध्यान में रखना चाहिए। वह विशेषता कैसी कुछ है, इसे समझना चाहिए। वर्ण-व्यवस्था अछूतपन की जननी है, यह केवल अज्ञान-प्रलाप है। कोई भी तर्क या अनुभव इसमें प्रमाण नहीं और न दिल ही मानता है। वर्ण-व्यवस्था से इस पाप का संपर्क बतलाना तो ऐसा ही है, जैसे सूर्य में अंधकार बतलाना। हमारे देश में अछूतपन की सृष्टि तो केवल अज्ञान से हुई है, जैसे और और देशों में। यदि यह बात नहीं है, अगर वर्ण-व्यवस्था ही इस पाप को पैदा करने-वाली है, तो फिर दूसरे देशों में इस दुष्ट और नीच प्रथा का कारण क्या है, जो प्रायः सभी पाश्चात्य देशों में और विशेषतः जापान आदि में समय-समय पर अपने वीभत्स स्वरूप को प्रकट कर चुकी है? वहाँ तो आर्यों की यह वर्ण-व्यवस्था न थी? फिर, आपके देश में ही स्त्रियों की यह हीनतम दशा किसने की? वर्ण-व्यवस्था ने? वर्ण-व्यवस्था के पक्षपाती मनु जहाँ कहते हैं कि "यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः" वहाँ आपके इन घरों में इन देवियों की क्या दशा हो रही है? इसमें किसका दोष है? सोचिए। यही क्यों, सब ओर से जो हमारा पतन हो रहा है, इस सबका मूल कारण क्या है? केवल अज्ञान। अज्ञान से ही सब बुरी प्रवृत्तियों का जन्म होता है। इस अज्ञान ने ही अवश्य हमारी वर्ण-व्यवस्था में भी धब्बा लगा दिया है।

वर्ण-व्यवस्था में किसी को नीच या अछूत नहीं समझा

गया है। जो भी उत्तम काम करे, वह उत्तम। शूद्रों को किसी भी वर्ण-व्यवस्था के विधान में नीच या अछूत नहीं बतलाया गया है। उन्हें तो परम श्रेष्ठ माना गया है और वह काम सौंपा गया है, जिसके बल पर आज सभी देश मौजें उड़ा रहे हैं। वह कौन-सा काम है? यही शिल्प-कला हमारे यहाँ शूद्र जनों के भाग में है। इस शिल्प-कला को कौन नीच कह सकता है? हमारे मन की भावना ही कुछ ऐसी नीच हो गई है कि शूद्रों को तो क्या, शूद्रों से संसेवित शिल्प-कला को भी नीच दृष्टि से देखने लगे हैं! पतन का कुछ ठिकाना है? चमड़े का जूता हम पहनेंगे और उसके ट्रंकों में बड़ी उत्तम-उत्तम वस्तुएँ आनंद से रखेंगे; किन्तु उसके बनाने वालों से घृणा करेंगे! चमड़ा छुएँगे, पर चमड़े को छूने वाले मनुष्य को न छुएँगे, जो उस चमड़े की शिल्प-कला में निष्णात है! यह कैसा अज्ञान है! फिर इस अज्ञान को पवित्र वर्ण-व्यवस्था के मत्थे मढ़ना कितना भीषण अज्ञान है! ब्राह्मण से लेकर भंगी तक सभी बराबर हैं। जो अच्छे काम करे, वही अच्छा और बुरे काम करे सो बुरा। सदा से ही यह बात रही है। रावण जन्म से ब्राह्मण था; पर कर्मों से नीच था। भगवान् राम ने उसे चौपट कर दिया। एक क्षत्रिय ने एक वेदज्ञ ब्राह्मण की छाती अपने पैने बाणों से चीर डाली। उस समय की वर्ण-व्यवस्था से व्यवस्थित जनता ने इसका सहर्ष अनुमोदन किया—आज तक करती आती है। वैदिक सिद्धान्त ही है कि जो अच्छे काम करे, अच्छा; और बुरे करे, सो बुरा। वर्ण-व्यवस्था कभी भी इस सिद्धांत की बाधक नहीं हुई है। उसकी दृष्टि में साम्य है।

वर्ण-व्यवस्था और दलबंदियाँ

बहुत से लोग कहा करते हैं कि वर्ण-व्यवस्था के ही कारण भारत में दलबंदियाँ हो रही हैं। दक्षिण में ब्राह्मणों और अब्राह्मणों का भयंकर झगड़ा इसी का भीषण परिणाम है! उत्तर भारत में भी यह बीमारी बढ़ती जा रही है। यहाँ भी लोगों के मन मलिन होते जा रहे हैं। इन सब उपद्रवों का कारण एकमात्र वर्ण-व्यवस्था है।

यह बात भी निःसार है। दक्षिण भारत में अब्राह्मणों के साथ जो ब्राह्मण अन्याय करते हैं—मनुष्यों के एक वर्ग को अछूत समझकर उन पर ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि ऊँचे कहे जाने वाले लोग जो राक्षसी बर्ताव करते हैं, वे अक्षम्य हैं। पर, उनका यह दोष वर्ण-व्यवस्था के सिर कभी नहीं है। इस सब उपद्रव का कारण अज्ञान है। दुर्मद अज्ञानी अपने अज्ञानावेश में आकर निर्बल जनता को कुचलने लगते हैं। जब इस प्रकार का अत्याचार हद दर्जे तक पहुँच जाता है, तो फिर समस्त देश को इसका कटु फल भोगना पड़ता है। ऐसे अज्ञान-जन्य अत्याचार को हम वर्ण-व्यवस्था के सिर थोपें, यह बड़ी भारी मूर्खता है। यह अवश्य है कि समय की गति-विधि से हमारी सुन्दर वर्ण-व्यवस्था में भी बड़ी-बड़ी बुराइयाँ आ गई हैं—अज्ञान ने इसे भी अपने पंजे में ले लिया है। आज वर्ण-व्यवस्था के नाम से ही अनेक अत्याचार जारी हैं। वर्ण-व्यवस्था का ही नाम लेकर करोड़ों भाइयों को अछूत कहकर दुरदुराया जाता है और उस कुएँ से उन्हें पानी भी नहीं भरने दिया जाता, जिससे एक विधर्मी चमड़े के डोल से

अपनी मशक भरता है और जिसके घाट पर गड्ढों में भरा हुआ पानी मज़े में कुत्ते, कौए तक पीते हैं ! उन्हें कुएँ के ऊपर चढ़ने तक नहीं दिया जाता ! दक्षिण तो कई मार्गों से अपने भाइयों को निकलने भी नहीं दिया जाता ! कहा जाता है कि मार्ग अपवित्र हो जायगा ! और, उसी मार्ग से कुत्ते-बिल्ली, गधे, सुअर आदि निकलते रहते हैं। उनसे मार्ग अपवित्र नहीं होता ! हाँ, यदि वे भाई कल अपनी चोटी कहीं जाकर कटा लें, तो फिर इनको न कोई कुएँ से पानी भरने को मना कर सकता है और न किसी मार्ग पर चलने को। तो क्या यह चोटी ही इतनी अपवित्र है ? सो, यह सब अनर्थ अवश्य ही अधिकांश में वर्ण-व्यवस्था के नाम पर जारी है। पर, ऐसे पापकर्म में लीन दुष्टजन वर्ण-व्यवस्था को व्यर्थ में बदनाम करते हैं। वर्ण व्यवस्था का स्वरूप बड़ा पवित्र है। क्या वह ऐसा नृशंस कर्म करने की आज्ञा देगी ? कुछ लोग बहाना ढूँढ़ लेते हैं। जुआरी, शराबी और मांसाहारी भी अपने पक्ष में शास्त्रों की दुहाई देने को तैयार रहते हैं। तो, क्या उनके ऐसा कहने से शास्त्र, जुआ और शराब आदि के सिखाने वाले हो सकते हैं ? यही दशा इन अत्याचारी दुष्टों की और वर्ण-व्यवस्था की है।

यह तो हुई विशेष दलबन्दी की बात। पर सामान्यतः दलबन्दी के बारे में कहा जा सकता है कि पाश्चात्य हवा का झोंका ही कुछ ऐसा है कि इससे दलबन्दियों के दल बहुत तैयार होते हैं। योरोप में बड़ी-बड़ी दलबन्दियाँ होती हैं। पर विशेषतः राजनैतिक। इन दलबन्दियों के कारण प्रजावर्ग में बड़ा विषैला मनोमालिन्य बढ़ता है, जिसका प्रभाव अच्छा नहीं होता। प्रत्येक

प्रकार की व्यर्थ दलबन्दी से जनता का अहित ही है। सो, देश की दलबन्दियों का कारण वर्ण-व्यवस्था नहीं, मूर्खता है।

वर्ण-व्यवस्था और ब्राह्मण

जात-पाँत-तोड़क लोग कहा करते हैं कि वर्ण-व्यवस्था की चाल ब्राह्मणों ने अपने स्वार्थ के लिए डाल रक्खी है और वे ही इसे टूटने नहीं देते। इस बात की भी जाँच कीजिए और देखिए कि इसमें कितना तथ्य है। यदि वर्ण-व्यवस्था को ब्राह्मणों ने जारी किया, तो कोई अन्याय नहीं किया, यदि उससे लोकहित हो। यदि इसे उन्होंने केवल अपने स्वार्थ के ही लिये गढ़ा हो, तो अवश्य यह व्यवस्था और व्यवस्थापक दोनों ही त्याज्य और निंद्य हैं। देखिए, ब्राह्मणों ने वर्ण-व्यवस्था बाँधी, अच्छी बाँधी। किस लिए? लोक-शृंखला को सुचारु-रूप से चलाने के लिए और फलतः जनता के कल्याण के लिए। उसमें उनका भी कुछ स्वार्थ था? बिलकुल नहीं। वे अत्यन्त त्यागी और निःस्पृह थे। जो उन ब्राह्मणों को अज्ञानवश स्वार्थी कहते हैं, अवश्य कृतघ्न हैं। उन ब्राह्मणों ने लोक-सेवा के लिये अपने सुख-साधनों का कुछ भी खयाल न किया। ऐश-आराम के सब साधन अन्य तीनों वर्णों को सौंप दिये। लोक-शासन—राज्य-रंजन—क्षत्रियों को सौंप दिया। 'व्यापारे वसते लक्ष्मीः' और लक्ष्मी से सब कुछ सुख-सामग्री उपलब्ध हो सकती है। सो, इस व्यापार-विद्या और इसके कार्य को वैश्यों के हवाले कर दिया। व्यापार शिल्प-कला के अधीन है। शिल्पी जन सदा स्वतन्त्र रहकर अपनी उन्नत-कला के द्वारा सब कुछ कर सकते हैं। हमारी शिल्पकला

पर काल-वश पानी फिर गया है; पर पश्चिमीय देशों की शिल्प-कला इसका प्रमाण है। कह सकते हैं कि शिल्प-कला से ही उन देशों का व्यापार है, जिससे वे समस्त संसार का शासन करते हैं। कभी हमारे देश की भी शिल्प-कला इसी प्रकार उच्च थी। यह शिल्प-विद्या शूद्र-वर्ण को सौंप दी गई। ब्राह्मणों ने अपने लिये क्या रक्खा? यह कि जन्म भर अध्ययन-अध्यापन करें। सब वर्णों को विद्याएँ। सबको सिखाएँ; पर उनसे स्वयं कुछ उपार्जन न करें। वेदों और शास्त्रों का अध्ययन और मनन करते रहें और लोक को शिक्षा दें। फिर, इनकी लोक-यात्रा के लिये क्या उपाय है? क्षत्रिय राज-प्रासादों में बैठकर हुकूमत कर रहे हैं। वैश्य अपने तिमञ्जलों में बैठे आराम से मुनीमों के कारनामे जांच रहे हैं और शूद्र-बन्धु विविध शिल्प-कलाओं के द्वारा सुसम्पन्न होकर महलों में बैठे सुखमय जीवन बिता रहे हैं। ये सब तो इस आनन्द में हैं। ऐसे दशा में ब्राह्मणों ने अपने आराम के लिए क्या व्यवस्था की? यही कि अनायास जो मिल जाय, उससे निर्वाह कर लेना चाहिए। यदि उस महती सेवा को कुछ समझ कर वर्णत्रयी के लोग कुछ दे दें, तो उससे अपना जीवन-निर्वाह ब्राह्मण कर ले। यदि कोई कुछ न दे, तो वन के फल-फूल खाकर रहे। खेतों से शिल-कण बीनकर खा ले। पर, न तो किसी से कुछ मांगे और न स्वयं अपने जीवन के लिये कुछ चेष्टा करे। ऐसा करने से वह इधर का ही हो रहेगा। फिर उसकी लोक-सेवा की मात्रा कम पड़ जायगी, जिसे उसने अपना धन समझा है।

कहिए, वर्ण-व्यवस्था रचकर ब्राह्मणों ने कैसा अपना स्वार्थ-

साधन किया ? कृतघ्नता की भी कोई हद है ? यह तो हुई पुरानी बात—उन ब्राह्मणों की जिन्होंने वर्ण-व्यवस्था का सूत्र-पात किया था। अब इधर आइए। देखिए कि उसके बाद उन ब्राह्मणों की इस वर्ण-व्यवस्था से क्या स्वार्थ-सिद्धि है, जो बराबर इसके अबतक पक्षपाती और पोषक रहे हैं—और हैं ? वैदिक धर्म से बौद्ध-धर्म की उत्पत्ति हुई। बौद्ध वेदों को नहीं मानते थे। उस समय भारत के प्रायः सभी राजा-महाराजा इस नये धर्म की छत्र-छाया में आ गये। प्रजा भी इधर झुक गयी; पर ब्राह्मण अपनी बात पर अड़े रहे। वे किसी-न-किसी तरह वेद-शास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन करते रहे। बहुत दुःख सहे; पर अपने कर्त्तव्य से न हटे। क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जन बौद्ध मत से दीक्षित होकर मौज कर रहे थे; पर ब्राह्मण बेचारे सूखी-रूखी रोटी चबाकर वेदों का मनन करके सन्तुष्ट रहते थे। बहुत दिनों तक यह प्रवाह जारी रहा। क्या वे सुख को बुरा समझते थे ? पर, धर्म भी तो कोई चीज़ है ? वह भी तो सुख-सामग्री है, पर, जाननेवाले के लिए।

बाद में, मुसलमानी राज्य-काल में भी ब्राह्मणों ने ही बड़े-बड़े दुःख सहकर अपने धर्म और वेद-शास्त्रों की रक्षा की। सभी लोग फ़ारसी और अरबी पढ़-पढ़कर ऊँचे-ऊँचे ओहदों पर बैठे मूछों पर ताव दे-देकर आनन्द करते थे। उन्होंने वेष-भूषा आदि भी मुसलमानी ही बना लिया था। ऐसे कठिन समय में ब्राह्मणों ने अपनी भाषा, अपनी लिपि और अपनी वेष-भूषा तथा अपना धर्म-कर्म सँभाले रक्खा। उन्होंने देखा कि कुछ ब्राह्मण भी लोभ में आकर फ़ारसी की ओर झुकने लगे हैं, तो नियम-सा बना दिया

कि "न पठेद्यावनीं भाषां प्राणैः कण्ठगतैरपि।" चाहे कितना ही दुःख मिले, भले ही प्राण तक निकलने को हो जायँ, पर अपनी भाषा छोड़कर कभी विदेशी भाषा मत पढ़ो। किन्तु इनकी बातों का असर उस समय मदोन्मत्त हिन्दू-समाज पर बिलकुल न पड़ता था। हाँ, ब्राह्मण ही इस ओर झुके हुए थे। अपनी संस्कृत और हिन्दी-भाषा को देवनागरी लिपि में सदा ब्राह्मण ही लिखते थे, जिनको और लोग "बम्हनी" भाषा और लिपि कहकर खिल्ली उड़ाया करते थे। परन्तु ब्राह्मण-बन्धु इन सब मुसीबतों का सामना करते हुए अपने कर्तव्य-पथ पर डटे रहे। आज भी संस्कृत-भाषा, राष्ट्र-भाषा और वेदाध्ययन आदि शुभकार्यों में किसकी संख्या सबसे अधिक है? कौन वर्ण सब समाजों की कटु भर्त्सना और दरिद्रता को ओढ़े हुए भी इधर अग्रसर है? सनातनधर्म अथवा आर्य-समाज में संस्कृत-भाषा का अध्ययन किस समुदाय के नाम प्रायः रजिस्ट्री-सा हो रहा है? जरा सोचिए तो सही और बतलाइए कि इसमें उनका क्या स्वार्थ है? क्या व्यापार-वाणिज्य आदि करके मालामाल होना उन्हें अच्छा नहीं लगता? यह सब वर्ण-व्यवस्था का माहात्म्य है, जिसके प्रभाव से आजतक बड़े-बड़े कष्ट सहकर ब्राह्मणों ने संस्कृत-भाषा और वैदिक-धर्म का नाम बचा रक्खा है। इस पर भी दो कौड़ी के आदमी भी आजकल मेज पर उर्दू-पुस्तक फटकार कर 'वेदों का परचार' करते हुए भरपेट ब्राह्मणों को कोसते रहते हैं! यह कितनी कृतघ्नता है!

कोई-कोई महाशय कहेंगे कि हाँ, उस समय के ब्राह्मणों में अवश्य वैसा त्याग था। वे धन्यवाद के पात्र हैं। किन्तु, आज

तो वे वैसे नहीं रहे। अब तो ब्राह्मण केवल अपने स्वार्थ के लिए वर्ण-व्यवस्था के गीत गाते हैं। इस बात में भी तथ्य ढूँढ़िए! आजकल अधिकांश ब्राह्मणों की प्रवृत्ति भी संसार की हवा देखकर उसके अनुकूल हो गयी है। ब्राह्मण भी कार-व्यापार में पड़ कर धन कमाने लगे हैं। वे भी अंग्रेजी पढ़कर ऊँचे-ऊँचे पदों पर विराजने लगे हैं। ब्राह्मण भी वकील, बैरिस्टर और डाक्टर आदि प्रचुर संख्या में हो गये हैं। यह सब देखकर किसी को जलना न चाहिए। समय सब करा लेता है। फिर इसमें दोष ही क्या है? ब्राह्मण भी दुनिया में इज्जत से रहना पसन्द करते हैं। उन्होंने बहुत दिन तक संस्कृत-भाषा और वेद-विद्या को अपनाया-अब औरों की बारी है। केवल बातों से काम नहीं चलता। इनके अतिरिक्त बहुत से ब्राह्मण मिहनत-मजदूरी करके अपना निर्वाह करते हैं। कुछ संख्या ऐसी है, जो संस्कृत की भक्त है। ये बेचारे स्कूल-कालजों और पाठशालाओं में पढ़ाते हुए जीवन-यापन करते हैं—सब परिश्रम से कमा-कमा कर खाते हैं। कुछ अधकचरे संस्कृत के पण्डित, ज्योतिष आदि के द्वारा अथवा पौरोहित्य से अपना काम चलाते हैं। क्या कोई इन्हें इनके परिश्रम से अधिक दे देता है? रहे पण्डे-पुजारी। सो इन्हें यदि आप मुफ्त-खोर कहें, तो कह सकते हैं। पर, प्रत्येक मत और समाज में यह श्रेणी है। हाँ, हमारे पण्डे-पुजारियों में पाप की मात्रा भी बहुत बढ़ गयी है; अतः शीघ्र इनका शासन होने की जरूरत है। ब्राह्मण जाति या वर्ण में इन पण्डे-पुजारियों की संख्या दाल में नमक के बराबर भी नहीं है। फिर, ये दुष्ट पण्डे-पुजारी कब वर्ण-व्यवस्था की शिक्षा देने आते हैं? इनके इतनी बुद्धि ही

होती, तब क्या था ? आप इनका कड़ा शासन कीजिए। इनकी जगह योग्य पण्डे और पुजारी नियत कीजिए। दुष्टता और नीचता को दूर करने के भी उपाय हैं। प्रत्येक रोग की दवा होती है।

इतना सब कहने का मतलब यह कि ब्राह्मणों को वर्ण-व्यवस्था के प्रचलित रखने से अपना कोई स्वार्थ नहीं; प्रत्युत लौकिक दृष्टि से हानि ही है। देखते हैं, हिन्दुओं में ब्राह्मण ही सबसे अधिक गरीब हैं। सदा से ये ऐसे ही रहे हैं। क्षत्रिय और वैश्य आदि मजे से मौजें करते रहे हैं और करते हैं; पर, ब्राह्मण सदा ऐसे ही रहे। यह क्यों ? इसी वर्ण-व्यवस्था के बंधन के कारण ब्राह्मण लोग पढ़ना-पढ़ाना और लोगों को शिक्षा देना अपना काम समझते रहे। उस काम को वे शक्ति भर देश-काल के अनुसार करते भी रहे। इस गये-गुज़रे ज़माने में भी इस वर्ण ने उज्ज्वल रत्न उत्पन्न किये हैं। स्वामी श्रीदयानंद सरस्वती, लोकमान्य तिलक, माननीय मालवीय और त्यागमूर्ति नेहरू आदि इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। हमारे और वर्णों में भी ऐसे त्यागशील और कर्मठ व्यक्ति उत्पन्न हुए हैं; पर ब्राह्मणों में अधिक, इसका कारण वर्ण-व्यवस्था ही है। ब्राह्मणों की बुद्धि प्रसिद्ध है। क्या ये व्यापार नहीं कर सकते थे ? या इन्हें कंगाल रहना ही पसंद था ? इतनी बुद्धि रहते हुए भी ये व्यापार की ओर क्यों न झुके ? इसमें वर्ण-व्यवस्था ही कारण थी और है, जिससे ब्राह्मणों की यह दशा हो रही है। चाणक्य जैसे नीति-पटु ब्राह्मण ने भी राज्य-कार्य न सँभालकर कुशासन दूर करके भी अपना कुशासन ही पसंद

किया। राजाओं को बनाना और बिगाड़ना उनके बाएँ हाथ का खेल था, तब उनके लिए राज्य-व्यवस्था क्या चीज थी? किंतु, उन्होंने राजप्रसाद में न बैठ कर अपनी कुटिया ही सँभाली। इस त्याग में कौन शक्ति विशेष काम कर रही थी? वर्ण-व्यवस्था। परशुराम ने इक्कीस बार पृथ्वी के दुष्ट राजाओं का विध्वंस करके समस्त पृथ्वी ब्राह्मणों को दे दी। स्वयं सम्राट् न बने। क्यों? वर्ण-व्यवस्था का जोर था। उन ब्राह्मणों ने भी फिर-फिर उस पृथ्वी को इक्कीसों बार क्षत्रियों को ही सौंप दिया। क्यों? वर्ण-व्यवस्था की विधि थी। परशुराम ने ऐसा इसलिये किया था कि पृथ्वी के अधीश्वरों में दुर्मद और अन्याय बहुत बढ़ गया था, जिसके शिकार स्व ' उनके पिता भी बन चुके थे। इन्हीं अत्याचारियों का शासन अकेले परशुराम ने किया था—धर्म की स्थापना के लिये। तब की बात जाने दीजिए। अब भी वर्ण-व्यवस्था के ही विधान से ब्राह्मण इतने दुखी हैं। इनका मन कार-व्यापार की ओर जाता ही नहीं। पर, यह ग़लती है। हम पीछे कह आए हैं कि समय पर क्षत्रिय और ब्राह्मण भी व्यापार करते थे और करना चाहिए। इसमें वर्ण-व्यवस्था कुछ भी बाधक नहीं। आजकल ब्राह्मणों को भी समयानुसार उचित धंधों में लगना चाहिए। संस्कृत-भाषा विशेषतः उन्हीं ब्राह्मणों को पढ़ना चाहिए, जिनके पास अपने निर्वाह के लिये पुष्कल धन है। कारण, पहले क्षत्रिय और वैश्य आदि संस्कृत विद्वानों की उचित सेवा करते थे—अपनी आमदनी का कुछ भाग इधर लगाते थे; पर आज वह बात नहीं है। कितने ही संस्कृत के पंडित इधर-उधर फिरते हैं, जिन्हें कोई पूछता तक नहीं। इसलिये समझ-सोचकर काम करना उचित है। बहुत

से ब्राह्मण कहा करते हैं कि ऐसा करने से संस्कृत-भाषा को धक्का लगेगा। हम कहते हैं इसकी परवा तुम तब करो, जब अपने पेट और इज्जत की कर लो। बहुत दिनों तक तुमने इसकी रक्षा की। अब कुछ भार औरों पर भी छोड़ो। सभी का काम है कि अपनी भाषा और सभ्यता की रक्षा करें। क्या क्षत्रियों और वैश्यों तथा शूद्रों का कर्तव्य नहीं है कि वे संस्कृत पढ़कर अपने शास्त्रों के अस्तित्व की रक्षा करें? फिर, वे इधर से क्यों विमुख हैं? हम यह नहीं कहते कि उनकी तरह तुम भी इसे यों ही अनाथ छोड़ दो। नहीं, इसकी सेवा कभी मत छोड़ो, पर साथ ही अपने जीवन, मान-मर्यादा और बालबच्चों का भी ध्यान रक्खो, जो अब बिना उचित कारबार के सम्भव नहीं। वर्ण-व्यवस्था की विधि ऐसा करने से मिट न जायगी। यह आपत्काल है। आपत्काल के लिए सब विधियाँ प्रायः विकल्प हो जाती हैं। इतनी दरिद्रता और अपमान से तो मरना अच्छा।

इतना सब लिखने से मतलब यह कि वर्ण-व्यवस्था से ब्राह्मण वर्ग का किंचित भी अपना स्वार्थ नहीं, सिवाय नुकसान के। हाँ, सम्भव है, मैं स्वयं ब्राह्मण हूँ; अतः ऐसा कहता हूँ और मुझे अपना स्वार्थ छिपाना ही अभीष्ट हो। यदि यह बात हो, तो इस विषय के विद्वान अवश्य इस विषय पर प्रकाश डालेंगे और बतलायेंगे कि ब्राह्मणों का वर्ण-व्यवस्था से क्या स्वार्थ है। मेरा यह अनुरोध पञ्जाबी जात-पाँत-तोड़क मण्डल के मन्त्री श्रीयुत सन्तरामजी बी० ए० तथा हिन्दी साहित्यिकों के सुपरिचित श्रीसत्यव्रत सिद्धान्तालंकार आदि महाशयों से विशेषतः है।

यहाँ पर एक बात और कहनी है। संसार की गति देखे हुए ब्राह्मणों में भी कुछ ऐसे महाशय उत्पन्न हो गये हैं, जो दूसरों से मोर्चा लेने के लिये कमर कसकर तैयार हो गये हैं। ये लोग राम और कृष्ण की पूजा बन्द कराके रावण और परशुराम की पूजा का विधान जा करते हैं। कहते हैं, ये ब्राह्मण थे; अतः इन्हीं की पूजा करनी चाहिए। परशुराम तो भगवान् के अवतार हैं हीं। उनकी पूजा करने का कौन मना करता है? पर, रावण की पूजा एक अद्भुत बात है! दुष्टों की पूजा कभी नहीं हुई है। ऐसी संकीर्णता निन्द्य है। ऐसी पार्टियाँ आजकल के आक्षेपों से जर्जरित-मनस्क नवयुवक बनाते हैं। उन्हें धैर्य और बुद्धि से काम लेना चाहिए। वर्ण-व्यवस्था को ऐसे दलदल में फँसने से बचाना चाहिए।

दक्षिण के ब्राह्मण-अब्राह्मण आन्दोलन में विषाग्नि पैदा हो रही है। इसे सब से पहले ठण्ढी करनी चाहिए। कुछ लोग उत्तर भारत में भी यह आग सुलगा रहे हैं। इससे सावधान रहने की आवश्यकता है। दक्षिण के ब्राह्मण आदि ऊँचे वर्ण कहाने वाले लोग वहाँ के अब्राह्मणों (अछूतों) पर घोर अन्याय करते हैं। इसे शीघ्र मिटाना धर्म है। 'ब्राह्मणपार्टी' से सिर्फ़ ब्राह्मणों का ही ग्रहण नहीं है; उसमें क्षत्रिय, वैश्य आदि सभी शामिल हैं, जिन्हें 'ब्राह्मण-पार्टी' कहते हैं। दूसरी ओर अब्राह्मण हैं, जिन्हें अस्पृश्य समझा जाता है। यह विषमता का विष शीघ्र दूर हो, तभी जाति का कल्याण है। समस्त भारत से छुआछूत के कोढ़ को निकाल कर शुद्ध वर्ण-व्यवस्था प्रचलित करने की ज़रूरत है।

जाति और वर्ण

आजकल यह प्रथा है कि जब कोई हमसे पूछता है कि आप किस जाति के हैं ? तो, हम लोग उत्तर देते हैं—ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय वैश्य आदि । यह भूल है । ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि जातियाँ नहीं, वर्ण हैं । इनके फिर कितने ही भेद और उपभेद हैं । जाति तो 'हिन्दू' है । जब कोई जाति पूछे, तो हिन्दू-जाति बतलाना या लिखना चाहिए । विवाह आदि अपने-अपने वर्ण या वर्ग में हों, और उस समय वर्ण या वर्ग पूछने की जरूरत है । एक हिन्दू अथवा आर्य-जाति के ब्राह्मण आदि वर्ण हैं । पुलिस और अस्पताल आदि में भी ब्राह्मणों से लगाकर भंगी तक को अपनी जाति हिन्दू लिखानी चाहिए । इसकी व्यवस्था होनी चाहिए । मर्दुमशुमारी में भी सबको अपनी जाति 'हिन्दू' ही लिखाना उचित है । ब्राह्मण आदि वर्णों का नाम जाति की जगह ग़लती से लिखा जाता है । इसे दूर कर देना ही ठीक है ।

हिन्दू-जाति और मत-मजहब

हमारी जाति में सदा से विचार-स्वातन्त्र्य रहा है । कभी किसी को अपने विचार प्रकट करने की मनाई नहीं रही है । कभी ऐसा नहीं हुआ है कि वेदों पर आक्षेप करने वाले की जान 'संग-सारी' करके ले ली गयी हो, या कोई शूली पर लटका दिया गया हो । यही कारण है कि वेदों के मानने वाले और न मानने वाले, ईश्वर के उपासक और अनीश्वरवादी आदि सभी विचार के समुदाय हमारी हिन्दू-जाति में हैं और सदा रहेंगे । यही इस जाति की सर्वोत्कृष्ट विशेषता है । इसमें इतना ध्यान रखना

चाहिए कि हिन्दू-जाति के ये सब मत-मजहब हैं, ये मत-मजहब कोई जाति नहीं। सनातनी, आर्यसमाजी, जैन, बौद्ध और सिख आदि बहुत-से मत हिन्दू-जाति में हैं। कोई-कोई नहीं, बहुत से लोग, इन मत-मतान्तरों को ही इस प्रकार आजकल समाचार पत्रों में लिखने लगे हैं, जिससे भ्रम फैलता है। कहीं लिखा रहता है—"आर्य और हिन्दू नेताओं की मीटिंग हुई।" कोई छापता है—"बहुत से हिन्दू और सिख घायल हुए।" कहीं देखते हैं—"हिन्दुओं और जैनियों की सभा दया-प्रसार के लिए हुई।" यह गलती है। इस प्रकार आर्य, जैन और सिख आदि को कभी अलग न लिखना चाहिए। ये सब एक हिन्दू-जाति के मत हैं। हाँ, आवश्यकता पर इस प्रकार लिख देना चाहिए, जिससे ये मत जाहिर हों। सभी फिर्कों को एक जाति के नाम से लिखना चाहिए। ऐसा न करने से आगे भारी अनर्थ की संभावना है।

जन्म से वर्ण व्यवस्था

भारतीय वर्ण-व्यवस्था मानने वालों में अब दो दल हो गए हैं। एक तो इसे गुण-कर्म से मानते हैं और दूसरे जन्म से। यदि विचारपूर्वक देखा जाय, तो वर्ण-व्यवस्था जन्म और गुण-कर्म दोनों से है। यह बात हमारे पुनर्जन्मवाद से भी सिद्ध होती है। कोई प्राणी कुछ ही काल में पूर्ण ब्राह्मण या पूर्ण क्षत्रिय नहीं बन सकता। उसके लिये समय की आवश्यकता होती है। संस्कार जमते-जमते जम पाते हैं। मन की भावनाओं को सुदृढ़ होने में एक दीर्घ काल आवश्यक है। मान लीजिए, एक प्राणी

की प्रवृत्ति क्षात्र-धर्म की ओर है। उसकी उस तरफ़ की भावनाएँ धीरे धीरे पक्की होंगी। जब ये भावनाएँ पक्की हो जायँगी, तब उसकी भावनाओं या गुण-कर्म के अनुसार उसका जन्म अनुकूल स्थिति के किसी क्षत्रिय-गृह में होगा, जहाँ उसकी उन मानसिक भावनाओं का पूर्ण विकास होगा। तब वह पूर्ण क्षत्रिय होगा। यही बात अन्य तीन वर्णों के विषय में है। पुनर्जन्म-सिद्धान्त में यह बात सिद्ध है कि जन्म जीवों के गुण-कर्म और मानसिक भावनाओं के अनुसार होता है। यही कारण है कि आज तक भारत में, ब्राह्मण-गृहों में ही वैसे और उतने मेधावी स्वार्थ-त्यागी हुए हैं; क्षत्रिय-वंश में ही वे-वे धनुर्धर प्रकाण्ड पराक्रमी अवतीर्ण हुए हैं; आज कल भी वैश्य कुल में ही व्यापार-विशारदों का प्रादुर्भाव हो रहा है; और शूद्र वर्ण के पावन वंश में ही शिल्प-कला की उन्नति करने वाले हुए हैं। चारों वर्णों में वंश-क्रमानुगत ये बातें अब भी अनन्य-साधारण विद्यमान हैं। इसका कारण क्या है? यही न? कि पूर्व जन्मों के गुण-कर्म या मानसिक भावनाओं के अनुसार उन-उन जीवों का जन्म ही उन-उन अनुकूल कुलों में होता है, जहाँ वे अपनी सुपरिपक्व भावनाएँ कार्य-रूप में परिणत कर सकें। कभी-कभी इस सिद्धांत का प्रतिवाद भी देखने में आता है; पर उसके विशेष कारण भी होते हैं। प्राचीन इतिहास में विश्वामित्र और परशुराम आदि इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। किन्तु इस अपवाद से सामान्य सिद्धान्त का बाध नहीं हो सकता।

जगत् की सृष्टि त्रिगुणात्मक है। प्रत्येक प्राणी में सात्विक, राजस और तामस मनोवृत्तियाँ सहज होती हैं। हाँ, उनमें न्यूना-

धिक्य अवश्य होता है। ब्राह्मण सात्त्विक प्रवृत्ति का वर्ण है; पर उनमें भी राजस और तामस मनोवृत्तियाँ अवश्य न्यूनाधिक परिमाण में रहेंगी। किन्तु जिधर आधिक्य होता है, उसी के नाम से लोक में व्यपदेश होता है। इस लिये सात्त्विक प्रवृत्तियां की अधिकतावश उसे ब्राह्मण कहा जायगा। यही बात अन्य वर्णों के विषय में है। सब में सब प्रकार की मनोवृत्तियाँ रहती ही हैं। कारणवश जिधर आधिक्य होने लगा और वे मनोवृत्तियाँ धीरे-धीरे सुदृढ़ हो गईं, तब फिर उसका अगला जन्म ही ऐसे वंश में होगा, जहाँ उन मनोवृत्तियों को पूर्ण अनुकूलता मिले—जो वंश वैसी मनोवृत्तियों का और तदनुकूल साधन-संपत्ति तथा आचरणों का केंद्र हो। जिसकी भावना जिधर होती है, उसका अगला जन्म उसी के अनुसार ही होता है। उसके पिछले जन्म के गुण-कर्मों के अनुसार ही अगला जन्म मिलता है।

यदि कोई जन्म का शूद्र है और उसमें क्षात्र-धर्म की ओर अधिक झुकाव है, तो वह इधर ही खिंचता आवेगा। धीरे-धीरे उसकी भावनाएँ सुपरिपक्व होंगी; और तब उसका अगला जन्म शुद्ध क्षत्रिय के घर होगा, जहाँ उसे जन्म से ही अपनी भावना के अनुकूल सब साधन मिलेंगे। तब यह पक्का क्षत्रिय होगा। पिछले समय में जो वीरता की खान क्षत्रिय हुए हैं, उनमें यही वर्ण-व्यवस्था कारण थी।

लोगों का कहना है कि यदि किसी का जन्म वैश्य कुल में हुआ है, पर उसकी प्रवृत्ति क्षात्र धर्म की ओर अधिक है, तो फिर हम क्यों उसे वैश्य-प्रवृत्तियों में जबरदस्ती अटकाए रहें ? क्यों न उसे क्षात्र-धर्म का पालन करने दें ? [illegible] अवश्य

ऐसा होना चाहिए। वर्ण व्यवस्था ने न तो कभी इसमें रुकावट डाली है। और न डालती है। परशुराम ब्राह्मण होकर भी क्षात्र-धर्म की ओर प्रवृत्त थे और जनक क्षत्रिय होकर भी शुद्ध सात्त्विक ब्राह्मणत्व में निमग्न थे। ये अपवाद-स्वरूप हैं, यह बात हम पहले कह चुके हैं। अब भी वर्ण-व्यवस्था किसी को वैसे बन्धन में जकड़ कर नहीं रखती। जिसकी मनोवृत्तियाँ जिस ओर पूर्ण वेग से झुक पड़ीं, वे फिर सहसा रुक नहीं सकतीं; और यदि रुक गईं, तो फिर उनका उधर झुकाव पक्का न था।

वर्ण-व्यवस्था में मनोवृत्तियों का नियमन भी किया गया है। लिखा है, चारों वर्ण अपने-अपने काम करें। यह ठीक ही है। यदि ऐसा नियम न हो, तो अव्यवस्था हो जायगी। जब किसी प्राणी का जन्म अपने गुण-कर्म और संस्कारों के अनुसार वैश्य-वंश में हुआ, तो उसे वैश्य-वृत्ति और धर्म का ही अनुसरण करना चाहिए; क्योंकि वह इधर ही सफल हो सकेगा। कारण, उसकी मनोवृत्तियाँ उधर सुदृढ़ हैं, जिनके अनुसार उसका जन्म इस वंश में हुआ है। यदि कारणवश उसका मन क्षणभर के लिये क्षात्र-धर्म की ओर चला गया, तो उसे उतावली करके चट उधर प्रवृत्त न हो जाना चाहिए। सोचना चाहिए कि यह क्षणिक वेग तो नहीं है, जो किसी कारण से उत्पन्न हो गया हो। ऐसा सोचकर मन को रोकना चाहिए। हमारा मतलब यही है कि प्रधान रूप से अपने धर्म को न छोड़े। भले ही अपनी और-और प्रवृत्तियों के अनुसार कुछ इधर-उधर भी रहे। मान लीजिये, सेठजी के घर डाकू आ धमके। अब सेठजी की मनोवृत्ति

स्वभावतः उत्तेजित होकर राजस हो जायगी। उसमें तामस का भी संमिश्रण होगा और उसके अनुसार सेठजी के मन में क्षात्र-धर्म जागृत हो उठेगा। सेठजी की इच्छा होगी कि इन दुष्टों को मार भगाऊँ। ऐसे अवसर पर सेठजी को अपने हाथों में बन्दूक लेकर दनादन दाग कर उन दुष्टों को मार भगाना चाहिए। सेठजी की यह क्षणिक मनोवृत्ति थी। सब में सब प्रकार की—त्रिविध—मनोवृत्तियाँ रहती ही हैं। वे समय-समय पर अपना काम करती हैं। केवल एक गुण से या एक प्रकार की मनोवृत्ति से संसार का कुछ काम नहीं चल सकता और न कोई अपने धर्म की रक्षा ही कर सकता है। समय-समय पर सब प्रकार की भावनाएँ प्रादुर्भूत होती हैं और उनके अनुसार काम होता है। पर, व्यपदेश उन भावनाओं से ही होगा, जिसकी अधिकता होगी। सेठजी ने बहादुरी से बन्दूक चलाकर दुष्टों को मार भगाया, इससे वह क्षत्रिय न बन जायँगे। वे तो लक्ष्मी के लाल वैश्य ही रहेंगे। कारण, उनकी यह भावना और कार्य क्षणिक थे, जो कारण-वश प्रकट हुए थे। उनकी यह भावना और कार्य स्थायी न थे।

सबको अपनी-अपनी मनोवृत्तियों का नियमन करके वर्णाश्रम-धर्म का पालन करना चाहिए। मन की वृत्तियों को रोका भी जा सकता है। यदि किसी का जन्म क्षत्रिय-वंश में हुआ है; पर, वह क्षात्र-धर्म से विमुख है, तो उसे उसकी ओर झुकने का प्रयत्न करना चाहिए। वह उसका धर्म है। अपने धर्म का पालन न करने से दण्ड मिलता है। उसे अपना मन काबू में करना चाहिए। इसके लिए अभ्यास अपेक्षित है। बार-बार मन

उधर लगाओ—जग जायगा। मन को निग्रह करने की दवा 'अभ्यास' ही भगवान् ने बतलाई है। यदि वह क्षत्रिय ऐसा अभ्यास न कर मन को क्षात्र-धर्म में प्रवृत्त न करेगा, तो दण्ड का भागी होगा।

इसे यों समझिए। एक सिपाही सेना में भर्ती हुआ। वह शत्रु की सेना से लड़ने भेजा गया। वहाँ उसके छक्के-पंजे छूट गए या झूठी दया आ गई और वह भाग खड़ा हुआ, तो उस सिपाही को पकड़ कर दण्ड दिया जायगा। वह क्यों पहले सेना में भर्ती हुआ था? यदि हुआ, तो फिर क्यों नहीं अपने मन को काबू में रखकर रण-भूमि में, प्राण हथेली पर रखे, डटा रहा? यही बात वर्ण-धर्म में है। जब कि किसी जीव ने शम-दम आदि में अपना मन लगाया, तब उसकी भावनाओं के अनुसार उसका जन्म ब्राह्मण के घर हुआ। अब वह केवल धन के पीछे पड़कर व्यापार-धन्धे में ही लगा रहे और परमार्थ भुला दे, तो दण्डनीय है। उसे अपना मन वश में करना चाहिए। पहले तो जिसकी भावनाएँ सुदृढ़ हैं, उसका मन दूसरी ओर जा ही नहीं सकता। भावनाओं की प्रबलता ही ऐसी है। अगर कारणवश उसका झुकाव दूसरी ओर होकर अपने धर्म से औदासीन्य होगा भी, तो थोड़ी देर में समझ-बूझकर या समझाने-बुझाने से ठिकाने आ जायगा। अर्जुन की प्रवृत्ति को श्रीकृष्ण ने ठीक ही कर दिया था। हाँ, यदि अन्य प्रवृत्तियों में अत्यधिक बल होगा, तब उनका रुकना कठिन है। ऐसे अपवाद कभी-कभी और कहीं कहीं ही देखने में आते हैं। पर आजकल प्रवृत्तियों की वर्ण-संकरता-ओं की बहुत अधिकता है। इस वर्ण-संकरता का कारण शुद्ध

रज और वीर्य से एक वर्ण की दम्पति से सन्तानोत्पत्ति की कमी है। वर्ण-व्यवस्था के लिए स्त्री-पुरुषों में सदाचार की बड़ी जरूरत है। "स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः।" वर्ण-व्यवस्था के पक्षपातियों को सदाचार का प्रचार पहले करना चाहिए।

इस प्रकार जन्म तथा गुण-कर्म से वर्ण-व्यवस्था है। हमारे शास्त्रों में ऐसा ही प्रतिपादन है। यदि ऐसा न माना जाय, तो पुनर्जन्म-वाद को बड़ा धक्का लगेगा; क्योंकि उसकी नींव इसी पर है। गुण-कर्मों के अनुसार ही पुनर्जन्म होता है। वह यों ही अटकल-पच्चू नहीं हो जाता। हाँ, यदि रज-वीर्य में ही कुछ रद्दोबदल हो जाय, तब तो बात ही और है। ऐसे जन्मों में भी गुण-कर्म ही कारण है।

यहाँ तक संक्षेप में वर्ण-व्यवस्था की कुछ बातों पर विचार हुआ। ऐसी-ऐसी और बहुत-सी बातें हैं, जिनके देने के लिये यहाँ अब गुंजाइश नहीं है। हमें उनकी वैसी जरूरत भी नहीं है। प्रधान-प्रधान बातें ये हैं।

हमारी वर्ण-व्यवस्था बड़ी सुन्दर मनोविज्ञान के आधार पर है। दुनियाँ में कहीं भी ऐसी व्यवस्था नहीं है। इसमें जो दुर्गुण कालवश आ गए हैं, उन्हें दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए, जिन में छूआछूत का पचड़ा प्रधान है। इन दुर्गुणों को दूर कर फिर शुद्ध वर्ण-व्यवस्था का प्रचार आवश्यक है। चिलुओं के डर से कथरी ही जला डालना बुद्धिमानी नहीं है। इसमें नुक़सान है। लोग बेवक़ूफ़ बनाएँगे। चिलुओं को दूर करके कथरी साफ़ करलो और उससे काम लो।

लोगों का ख़याल है कि वर्तमान वर्ण-व्यवसाय से संग_न

में रुकावट आती है। यह अज्ञान है। जब वर्ण-व्यवस्था शुद्ध रूप में प्रचलित थी, बड़ा अच्छा संगठन था। जब से वर्ण-संकरता बढ़ने लगी, हममें विच्छेद होने लगा! वर्ण-व्यवस्था से तो संगठन में भारी मदद मिलती है। संगठन करने के लिये ही तो विभाग किये जाते हैं—यह सेना-विभाग है; यह शिक्षा-विभाग है और यह व्यापार-विभाग है। शिल्प-विभाग का काम अलग ही चल रहा है। यह सब मिलकर क्या हुआ? ब्रिटिश साम्राज्य। देखिये—देश, प्रान्त, जिला और तहसीलें आदि क्या हैं? साम्राज्य का विभाग, यह विभाग क्यों किया जाता है? संगठन के लिये। अन्यथा इतने बड़े देश का संगठन कैसे हो? तहसीलें जिलों में, जिले प्रान्तों में और प्रान्त देश में जुड़े हुए हैं। सब एक हैं। ऐसे ही संगठन होता है।

हमारी विशाल हिन्दू जाति के संगठन के लिए वर्ण-विभाग बड़े काम का है शूद्र भाई अपना प्रबल संगठन कर अपने पैरों पर खड़े हों। वैश्य भाई अपनी सभा-समितियों द्वारा अपना संगठन करके कुरीतियों को दूर करें। क्षत्रिय वीर अपनी सभा के बल पर अपने में एकता और वीरता का सम्पादन कर संबद्ध हों और ब्राह्मण अपने समाज का संगठन कर विद्याबुद्धि बढ़ाएँ। इनके सब भेद उपभेद इन में ही सम्मिलित हों। सम्भवतः वे अपना-अपना पृथक् संगठन करके भी इनमें जुड़े रहें। फिर ये सब हिन्दू महासभा से, नियमितरूपेण, जुड़े रहें। प्रत्येक वर्ण की सभा को हिन्दू-महासभा से सम्बद्ध होना चाहिए और उसकी आज्ञा शिरोधार्य करनी चाहिए। वह सबकी है और सबके ऊपर है। इसी प्रकार सनातन-धर्म, आर्य-समाज

और जैन तथा सिख, आदि धार्मिक सभाओं को भी हिन्दू-महासभा से सम्बद्ध होना चाहिए। हिन्दू महासभा इन सबका उचित अनुशासन करे। महासभा में इन सब वर्णों और मतांतरों की सभाओं के प्रतिनिधि उचित संख्या में रहें। कैसा सुन्दर संगठन होगा। हम सब एक हिन्दू जाति के हैं और हम सबकी एक सभा—हिन्दू-महासभा है। सब का एक देश और एक विश्वास है। सब बराबर हैं। कोई बड़ा या कोई छोटा नहीं है। जो बड़े काम करे, सो बड़ा और जो छोटे काम करे, वह छोटा। वर्णों को जो काम दिए गए हैं, सब महत्त्व के हैं और एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। सब मिले-जुले हैं। इन कामों में कोई छोटा-बड़ा नहीं। सब सुन्दर हैं। मनुष्य चोरी-जारी आदि कुत्सित काम करने से ही छोटा होता है। अन्यथा नहीं।

हमारे देश के अधिकांश लोगों को योरोप की हवा लगी है। वे सब बातों में इस देश को योरोप के रूप में ही देखना चाहते हैं। उनकी आँखों में वर्ण-व्यवस्था भी अखरती है। वे इसके तोड़ने के लिये भूरि-भूरि उद्योग भी कर रहे हैं। 'जात-पाँत तोड़क-मण्डल' तक क़ायम हो चुके हैं। वे लोग केवल वर्ण विभाग ही नहीं, किन्तु 'जात-पाँत' मात्र तोड़ना चाहते हैं। वर्ण-व्यवस्था के बाद हिन्दुत्व पर इनकी नज़र है। हिन्दू भी तो एक जाति है। इसे भी तोड़ा जाय। न तो दुनिया में कोई हिन्दू रहे और न कोई धर्म; क्योंकि संसार के संगठन में इनसे रुकावट पैदा होती है। इस प्रकार इनकी आँखों में समस्त आर्य-व्यवस्था ही चुभती रहती है। हम इसके लिए इससे अधिक और इस समय कर ही क्या सकते हैं कि जगन्नियन्ता जगदीश्वर से

प्रार्थना करें कि भगवन्! हमारे इन बन्धुओं को ऐसी बुद्धि दीजिए, जिससे ये अपने देश और धर्म की प्राचीन अवस्था-व्यवस्था के समझने में समर्थ हों। इनका मन इधर झुके। अपने प्राचीन भारत की वह आभा फिर लाने के लिये उतना प्रयत्न करें, जितना उसके विध्वंस करने में करते हैं।

कुछ अछूत सन्त और भक्त

(१)

भङ्गी वाल्मीकि

"हुतो एक सुपच सुनाम ताको वालमीकि,
श्याम लै प्रकट कियो भारत में गाइये।"

भक्तमाल

बात पुरानी, द्वापर के अन्त अथवा कलियुग के प्रारम्भ की है; उस समय की, जब भारत में आर्य-साम्राज्य का विलास था और भगवान श्रीकृष्ण ने बीन-बीन कर दुष्टों का दलन कर, भगवती वसुन्धरा को निष्कण्टक कर दिया था। धर्मराज युधिष्ठिर का धर्म-शासन था, शान्ति विराज रही थी। इसी शुभ-काल में, इस भारत में, जहाँ-तहाँ वर्तमान छूआछूत का भी बीज पड़ रहा था और अनुकूल स्थिति पाकर अंकुरित होने लगा था!

सब काम ठीक कर महाराज युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ आरम्भ किया। केवल इस यज्ञ के ही नहीं; किन्तु पाण्डवों के प्रत्येक क्षेत्र के सूत्रधार थे श्रीकृष्ण महाराज। यज्ञ भी उनके ही तत्त्वावधान में शुरू हुआ। भगवान ने अपना पाञ्चजन्य शंख रख दिया और कहा कि जब यज्ञ पूर्ण होगा तो यह शंख आप ही आप बज उठेगा। सब ने बात मान ली। अनुष्ठान हुआ।

सब पुण्य-कर्म विधिवत् हुए। ऋषि मुनियों की धूम थी। दौड़-दौड़ कर सब काम सामन्त-नरेशगण कर रहे थे। यज्ञ की अवधि समाप्त हो गई, पर वह शंख अभी तक मौन हो रहा। लोगों को बड़ी शङ्का और कुतूहल हुआ, शंख बजा क्यों नहीं? पाण्डवों के मन में उद्वेग और ग्लानि हुई। श्रीकृष्ण से कारण पूछा गया—महाराज, और किस बात की कमी रह गई है, जो शंख नहीं बजता? उत्तर मिला—"हमारा एक अकिञ्चन भक्त तुम्हारे नगर में मौजूद है, पर तुमने उसकी बात नहीं पूछी। उसका इससे अपमान हुआ है, यद्यपि वह स्वयं मान-अपमान कुछ नहीं मानता। उसके लिए तो व्यक्तिगत प्रतिष्ठा का कोई मूल्य नहीं है, परन्तु इससे क्या? हमें-तुम्हें तो ख्याल रखना चाहिए। निश्चय समझो, जब तक उस महापुरुष के चरण तुम्हारे घर को पवित्र न करेंगे, यज्ञ कभी भी सफल नहीं हो सकता; चाहे कितने ही ऋषि-मुनि सम्मिलित क्यों न हों।"

सुन कर लोगों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। भला इस महायज्ञ में, जहाँ समस्त संसार के ऋषि-मुनि और भक्त इकट्ठे हैं, इस हस्तिनापुर का ही कोई भक्त रह जाय; और सो भी ऐसा कि जिसके न आने से यज्ञ ही पूर्ण न हो! किसी की समझ में कुछ न आया। तब फिर उन्हीं पतित-पावन से प्रश्न हुआ—महाराज, हम लोगों की समझ में कुछ नहीं आता। आप ही कृपा कर बतलाइए, कौन से भक्तराज हैं? आश्चर्य है कि इस शहर में ही रहने वाले ऐसे भक्तराज को भी हम लोग नहीं जानते। हम लोगों के ख्याल से तो समस्त संसार के भक्त-शिरोमणि और ऋषि-मुनि यहाँ विराज रहे हैं। आप कृपा कर आदेश

कीजिए। श्रीकृष्ण ने कहा—सुनो भाई, तुम उसे नहीं जानते। हाँ, मैं जानता हूँ औरखूब जानता हूँ—कभी भी नहीं भूलता। देखो, वह है तुम्हारा भङ्गी, जिसका नाम है वाल्मीकि। कहो?

सुनकर सब दङ्ग रह गए। भगवान श्रीकृष्ण का वाक्य था, कुछ मखौल न था। युधिष्ठिर ने कहा—तो फिर अर्जुन, शीघ्र किसी को भेज कर·········!

श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर की बात काट कर कहा—नहीं, यह नहीं हो सकता। वहाँ किसी के भेजने से काम न चलेगा। उन्हें लाने के लिए स्वयं अर्जुन और भीम को जाना होगा; और सम्मान-पूर्वक लाकर भवन पवित्र करना होगा। साथ ही एक बात और है, उसे भी आप अभी सुन लीजिए; तब फिर जैसी इच्छा हो, वैसा करना। बात यह है कि उसके भोजन के लिए फिर से रसोई बनानी होगी और उसे बनाना पड़ेगा खास द्रौपदी को। कहिए, मञ्जूर है?

भला इनकी बात में ना-नुकर कौन करता? धर्मराज ने कहा—महाराज, और फिर परमात्मा ने मनुष्य को हाथ किस लिए दिये हैं? इसीलिए न? कि उनसे भगवद्भक्तों की कुछ सेवा बन पड़े? आज द्रौपदी के अहोभाग्य हैं!

इसके पश्चात् अर्जुन और भीम वाल्मीकि के घर गए। घर नगर से बाहर था। घर के चारों ओर काँटों की बाड़ थी, जिसमें एक लकड़ियों का टट्टर दरवाजे पर लगा था। दरवाजे के टट्टर को हाथ से हटा कर दोनों भीतर घुसे। देखते हैं, एक ओर झाड़ू और टोकरी रक्खी है; पर खूब साफ़ की हुई है। इधर-उधर कुछ और काम की चीजें पड़ी हैं। इस के बाद बाद फिर एक ओर

हलकी सी बाड़ थी उसके दरवाजे से जब भीतर पहुँचे तो देखा कि एक छोटे से गमले में सुन्दर हरा-भरा तुलसी का पौधा लगा है। आँगन लीपा-पोता पड़ा है। कुटिया के द्वार पर साफ़ टाट का परदा लटक रहा है। बिल्कुल शान्ति है। इस झोंपड़ी से थोड़ी दूर हट कर, इसकी दाहिनी ओर, दो-तीन कोठरियाँ बनी थीं। वे भी खूब साफ़-सुथरी थीं। उनमें वाल्मीकि के लड़के-बच्चे दीख पड़े। वे बेचारे इनको देख कर डर के मारे भीतर घुस गए। उनकी चिन्ता बहुत बढ़ गई। सोचने लगे कि आज बात क्या है?

अर्जुन ने झोंपड़ी का परदा ज़रा सा उठाया, देखा तो वही भङ्गी आसन लगाए बैठा है। सामने छोटे से सिंहासन पर शालग्रामजी की मूर्ति विराजमान है। उस पर चन्दन और फूल चढ़े हैं। कोठरी में सुगन्ध भरी थी, जिसने दोनों का मन हर लिया। इतने में वाल्मीकि की दृष्टि इधर आई, सामने अर्जुन और भीम खड़े थे। वे लज्जित और शङ्कित हुए। शीघ्र ही आचमन कर दौड़े और दूर से, मस्तक पृथ्वी पर रख कर, प्रणाम करने लगे; परन्तु उनका सिर पृथ्वी तक पहुँच न पाया था, तभी दौड़ कर अर्जुन ने बीच ही में थाम लिया और उन्हें अलिङ्गन कर, उनकी प्रशंसा करने लगे। फिर सब हाल कहा। वाल्मीकि श्रीकृष्ण पर ज़रा नाराज़ हुए।

दाहिनी ओर अर्जुन और बाईं ओर भीम थे। बीच में भक्त वाल्मीकि थे। बड़े आदर से राज-भवन में उन्हें ले आए।

इधर द्रौपदी भी भोजन बनाने में व्यस्त थीं उनसे श्रीकृष्ण ने कह दिया था:—

"जेतिक प्रकार सब व्यञ्जन सुधारि करो,
आज तुव हाथन की होति सफलाई है।"

द्रौपदीजी अपनी सब कारीगरी खर्च करने में लगी थीं। भोजन बनने तक वाल्मीकि को कमरे में सबसे ऊँची गद्दी पर बैठा कर सेवा-शुश्रूषा की गई, यद्यपि वे बहुत मना करते रहे और पाँव पड़ कर कहने लगे:—

"जूँठनि लै डारौं सदा द्वार को बुहारौं।"

सो, यह सब मनुहार मेरे योग्य नहीं; पर वहाँ तो श्रीकृष्ण-वाक्य के इशारे से सब हो रहा था। उसे टालता कौन? सब ऋषि-मुनि दङ्ग रह गए।

भोजन बन चुका। भीतर से खबर आई। भोजन करने भीतर चौके में गए। आसन बिछा। उस पर श्वपच जी बैठे। भोजन युधिष्ठिर जी ने स्वयं परोसा। भगवान को समर्पित कर, ज्योंही पहला ग्रास उठाया, त्योंही शङ्ख की प्रचण्ड ध्वनि शुरू हुई। सब के आश्चर्य के साथ आनन्द की सीमा न रही; परन्तु फिर शंख बन्द हो गया। श्रीकृष्ण ने कहा—यह बात क्या है? ग्रास-ग्रास पर शंख बजना चाहिए। मालूम हुआ, कुछ कोरक-सर है। ऊपर से तो सब ठीक था। मन की बात सब से पूछी गई। द्रौपदी से भी पूछी गई। उन्होंने कहा कि महाराज, मेरे मन में यह बात अवश्य आई कि यह जाति का भङ्गी भला हमारे हाथ की परीक्षा क्या जाने? बस, श्रीकृष्ण ने कहा—इससे भक्त का अपमान हुआ है, तुम क्षमा माँगो। ऐसा ही हुआ। फिर शंख बराबर बजता ही रहा, और तब तक बजता रहा, जब तक वाल्मीकि जी भोजन करते रहे। भोजन करने के बाद उसकी

ध्वनि विरत हुई। यज्ञ पूर्ण हुआ। सब मनोरथ पूर्ण हुए और सब अपने-अपने घर गए।*

(२)

रैदास

सन्देह-ग्रन्थि खण्डन निपुन, बानी विमल रैदास की।
सदाचार, श्रुति, शास्त्र, वचन अविरुद्ध उचारयो।
नीर-क्षीर विवरन परम-हंसनि उर धारयो॥
भगवत-कृपा प्रसाद, परम-गति इहि तन पाई।
राज-सिंहासन बैठि, ज्ञाति-परतीति दिखाई॥
वर्णाश्रम-अभिमान तजि, पद-रज बन्दहिं जासु की।
सन्देह-ग्रन्थि खण्डन निपुन, बानी विमल रैदास की।—नाभास्वामी

भक्तराज रैदास जी वर्ण के चमार थे; और थे समस्त हिन्दू-जाति के मुकुट-मणि। आप का अस्तित्व-काल पन्द्रहवें शतक के पिछले भाग से सोलहवें शतक के मध्य तक है। वैष्णवाचार्य स्वामी रामानन्दजी से आपको वैष्णवी दीक्षा मिली थी। वैष्णव-धर्म ने रैदास को और रैदास ने वैष्णव धर्म को ऊपर उठाया। यदि कहें तो कोई अनुचित नहीं कि रैदास को अपनी गोद में लेने से ही वैष्णव-धर्म अपनी इस पराकाष्ठा पर पहुँचा। रैदास जी गृहस्थ थे; और अपने रहने के लिए काशी जैसी जगह ढूँढ़ी थी, जो इनके विरोधियों का केन्द्र था। यह दिव्य सूर्य काशी में ही उदित हुआ और वहीं अस्त भी; परन्तु इसकी ज्योतिर्मय रश्मियों ने उस समय समस्त भारत को जगमगा दिया था। यही

---

*ध्यान देने की बात है कि ये द्वापर वाले वाल्मीकि जी ही भंगी-कुल में उत्पन्न हुए थे, रामायण प्रणेता आदि-कवि वाल्मीकि नहीं। नाम एक होने के कारण साधारण जन धोखे में पड़ जाते हैं। —लेखक

नहीं, अब भी—उस सूर्य के चिर-अस्त हो जाने पर भी—उसके दिव्य प्रकाश की छटा लुप्त नहीं हुई ! वह अब भी हमें मार्ग बता रहा है। हाँ, यदि हम स्वयं ही दिवान्ध बन जायँ तो और बात है!

जिस समय रैदास का उदय हुआ था, वह यह युग न था; वह था अब से लगभग चार सौ वर्ष से पूर्व का अन्धकारपूर्ण काल ! महाभारत के बाद अस्पृश्यता का जन्म हुआ, और रैदास के समय में उसने यौवन प्राप्त किया। उस समय देश और समाज में भिन्न-भिन्न अत्याचार, अनीति, बहिष्कार आदि दुर्गुण उत्पन्न हुए। ऐसे समय में रैदास महाराज ने विश्वनाथपुरी काशी में अपना झण्डा गाड़ा, जिसके नीचे प्रायः अधिकांश भारत आ गया था। विरोधी भी अपनी करनी में चूकते न थे; पर भगवान भास्कर को राहु-केतु कितनी देर तक रोक सकते हैं? रैदास जी की महिमा तथा सदुपदेश की मन्दाकिनी इस वेग से बही कि छोटे-मोटों की कौन कहे, बड़े-बड़े द्विज और राजा महाराजा तक आपके शिष्य हो गए।

रैदास जी की कीर्ति सुन कर चित्तौड़ की रानी साहिबा, जिनका नाम झाला था, आपके दर्शन के लिए काशी आईं और जैसा सुना था, उससे अधिक पाकर, इनकी शिष्या बन गईं।* कुछ दिन रह कर बहुत कुछ उपदेश लिया। इस समय ब्राह्मणों ने—काशी के अवैष्णव, विशेषतः स्मार्त ब्राह्मणों तथा इतर स्मार्तों ने, बड़ा बवण्डर उठाया। उनका एक डेपुटेशन महारानी साहिबा के पास भी गया; पर उन्होंने कहा—यदि तुम इस बात को अनुचित समझते हो तो महाराज (रैदास) जी से विचार

---

*ये झाला कौन थीं ? मीराबाई जी भी चित्तौड़ की थीं, और वे भी रैदास जी की शिष्या बन गई थीं। —लेखक

करो। अनौचित्य सिद्ध हो जाने पर जैसा कहोगे, हो जायगा। निदान इस झगड़े में भी रैदास जी जीते और विरोधी जन अपना सा मुँह लेकर रह गए!

कुछ दिन बाद महारानी गुरु जी से बिदा माँग कर घर चलने लगीं। उन्होंने गुरुजी से भी राजधानी चलने की प्रार्थना की; पर रैदास जी ने उस समय महारानी जी की यह प्रार्थना अस्वीकृत कर दी और कहा कि फिर कभी जब तीर्थ-यात्रा को निकलेंगे, तो अवश्य आपके यहाँ आयेंगे। बिदा होते समय महारानीजी ने गुरु जी को बहुत कुछ देना चाहा; परन्तु त्यागी रैदास ने कुछ भी स्वीकृत न किया। वे कहने लगे—रानी साहब, मुझे यह कुछ भी न चाहिए। मैं तो भगवान की चाकरी से छुट्टी पाकर नित्य दो जोड़ी जूतियाँ बना लेता हूँ। इनमें से एक को बेंचकर उसके खर्चे से सन्त-सेवा और भगवान की पूजा-अर्चा का काम चल जाता है और दूसरी के मूल्य से मेरे घर-कुटुम्ब का निर्वाह बड़ी अच्छी तरह से हो जाता है। इस बातको तुम देख चुकी हो। फिर भला हमें इस चपला के जञ्जाल में क्यों डालती हो! अन्त में झाला जी अपने दल-बल सहित चित्तौर को चल पड़ीं और बीच में कई पड़ाव डाल कर यथासमय अपनी राजधानी आ पहुँचीं।

कुछ दिन बीतने पर रैदासजी तीर्थ-यात्रा को निकले। मार्ग तय करते-करते एक दिन चित्तौर भी पहुँचे। वहाँ इनका बड़ा सम्मान हुआ। भला राजगुरु के सम्मान का क्या पूछना? तभी तो नाभा जी ने लिखा है:—

राज-सिंहासन बैठि ज्ञाति-परतीति दिखाई

रैदासजी के सामने ही झाला रानी ने एक दिन शहर भर को निमंत्रण दिया। भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यञ्जन तैयार हुए। अच्छी तैयारियाँ हुईं। सब लोग जमा हुए। पंक्ति बैठी। सब के बीच में एक बड़ी स्वर्ण-चौकी पर रैदास जी बिराजे। इस समय लोगों में काना-फूँसी होने लगी। रैदास जी समझ गए और अपने दिव्य प्रभाव से सबका समाधान कर दिया। सब शान्त हो गए। सब ने भोजन किया। फिर कितने ही इनके शिष्य बन गए। चित्तौर में कुछ दिन रह कर फिर रैदास जी ख़ाली हाथ अपनी उसी काशी वाली झोंपड़ी में चले आए और जूते बना कर बेंचने तथा भगवद्भजन करने लगे।

रैदास जी ने सब हिन्दू-शास्त्र अच्छी तरह पढ़े थे। शास्त्रों का मनन भी ख़ूब किया था, तभी तो:—

"सदाचार, श्रुति, शास्त्र, वचन अविरुद्ध उचार्यो।"

इनके वचन क्या थे, हंस की चोंच थे; जिनसे "नीर-छीर विवरण" सहज ही हो जाता था और इसीलिए "परम हंसनि उर धार्यो।" क्या कहना है? चमार की बात को हृदय में धारण किया किसने? ऐरे-ग़ैरे नत्थू-ख़ैरे ने नहीं, परमहंसों ने! बड़े-बड़े राजा-महाराजाओं और पण्डितों के गुरु और गृहस्थ होकर भी परमहंसों के माननीय उपदेशक! अब क्या चाहिए? यही नहीं; किन्तु कट्टर से कट्टर भी अभिमानी "वर्णाश्रम अभिमान तजि, पद-रज बन्दहिं जासु की?" सो यही रैदास जी महाराज हैं।

आप केवल शुष्क शास्त्री ही नहीं; किन्तु मातृभाषा हिन्दी के उत्तम कवि भी थे। कविता उपदेशपूर्ण और प्रसाद-गुण-परि-

प्लुत है। इनके सब ग्रन्थ और कविताएँ प्राप्त नहीं। कुछ फुटकर पद्य मिले हैं, जो प्रकाशित हो चुके हैं। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं; क्योंकि हिन्दी के न जाने कितने कवियों की कृतियाँ अस्तङ्गत हो चुकी हैं; फिर भला ये तो चमार थे! इनकी जाति का नाम भी इनकी काव्य-कला के लुप्त होने अथवा लुप्त करने के लिए पर्याप्त कारण था। सूर्य के अस्त हो जाने पर उसके विरोधी उल्लू जो न कर दें, थोड़ा है; अस्तु।

अब हम आपकी हिन्दी-कविता की कुछ चाशनी पाठकों को समर्पित करते हैं:—

रैदास की साखी

(१)

बाहर उदक पखारिए, घट भीतर विविध विकार।
सुद्ध कवन पर होइबो, सुचि कुंजर विध व्योहार॥

(२)

कर्म अकर्म विचारिए, संका सुन वेद-पुरान।
संसा सद हिरदे बसै, कौन हरै अभिमान॥

रैदास जी के शब्द

(१)

नरहरि! चञ्चल है मति मोरी, कैसे भगति करौं मैं तोरी॥
तू मोहिं देखै मैं तोहिं देखूँ, प्रीति परस्पर होई।
तू मोहिं देखै तोहि न देखूँ, यह मति सब बुधि खोई॥
सब घट अंतर रमसि निरंतर, मैं देखत नहि जाना।
गुन सब तोर मोर सब औगुन, कृत उपकार न माना॥
मैं तैं तोरि मोरि असमझि सों, कैसे करि निस्तारा।
कह "रैदास" कृष्ण! करुणामय! जै-जै जगत अधारा॥

(२)

आज दिवस लेऊँ बलिहारा, मेरे घर आया राम का प्यारा ॥
आँगन, बँगला, भवन भयो पावन, हरिजन बैठे हरि-जस गावन ।
करूँ दण्डवत् चरन पखारूँ, तन, मन, धन, उन ऊपर वारूँ ॥
कथा कहैं अरु अर्थ विचारैं, आप तरैं औरन को तारैं ।
कह "रैदास" मिलैं हरिदास, जनम जनम के काटैं पास ॥

(३)

नाभा

नाभास्वामी जाति के डोम थे, यह प्रसिद्ध है । नाभा जी की भक्ति अनुपम थी । ये अनन्य वैष्णव थे । इनके गुरु प्रसिद्ध वैष्णव श्री "अग्रदास" जी थे । नाभा जी के लाखों पण्डित और राजा-महाराजा शिष्य थे । और तो ख़ैर, जो कुछ हुआ सो हुआ; पर नाभा जी महाराज ने एक ऐसा काम किया है, जो किसी भी भक्त, पण्डित या कवि ने उनसे पहले अथवा उनके समय तक न किया था, और वह है—"भक्तमाल" का निर्माण । यदि भक्तमाल आज हमारे सामने न होती, तो सैकड़ों और हज़ारों हिन्दी-कवियों के बारे में हमें उतना भी पता नहीं चलता, जितना आज चल रहा है । यह बड़ा अपूर्व ग्रन्थ है । इसमें भक्ति-पुट अवश्य है; पर फिर भी ऐतिहासिक ग्रन्थ है और उस समय, जब इसकी रचना हुई तब, ऐसे ग्रन्थ का बनना बड़ा कठिन था । इसकी भाषा बड़ी मीठी और रसीली है । अलंकारों का भी समावेश है । सागर को गागर में भरने की नाभा जी

की आदत थी। भक्तमाल में भी यही बात है; तभी तो इसके प्रधान टीकाकार श्री प्रियादास जी ने इनके बारे में कहा है:—

गुन पै अपार साधु कहैं आँक चार ही में—

अर्थ—विस्तार कविराज टकसाल है।

मुझे तो भक्तमाल के जोड़ का, हिन्दी ही नहीं, अपनी परिचित किसी भी भाषा में, ग्रन्थ नजर नहीं आता। प्रियादास जी ने लिखा है:—

जाको जो सरूप सो अनूप लै दिखाय दियो,
किये यों कवित्त पट मिहीं मध्य लाल है।
गुन पै अपार साधु कहैं, आँक चार ही में—
अर्थ—विस्तार कविराज टकसाल है॥
सुनि सन्त–सभा झूमि रही अलि-श्रेणी मानों,
घूमि रही, कहैं यह कहा धौं रसाल है?
सुने हे "अगर" अब जानें मैं "अगर" सही,
'चोवा' भए नाभा सो सुगन्ध 'भक्तमाल' है॥

'भक्तमाल' में सभी जाति के भक्तों का वर्णन है। जात-पाँत का कोई ख़याल नहीं किया गया है, और इस साम्य को जनाने के लिए नाभाजी ने एक बात बड़े चातुर्य की की है। आपने भक्तमाल के आदि में भगवान के चौबीसों अवतारों का बन्दन किया है और उस मंगल-पद्य में अपने गुरु श्री अग्रदास जी का नाम दिया है। इस मंगलाचरण में आपने पहले 'राम' या 'कृष्ण' का नाम न लेकर "मीन" और वाराह" से उपक्रम किया है। इसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार भगवान के सब अव-

तार बराबर हैं, वैसे ही सब भक्त भी बराबर हैं। भगवान की भक्ति में जात-पाँत का कोई झगड़ा नहीं है। कम से कम 'भक्त-माल' में तो जात-पाँत की विषैली विषमता न मिलेगी। इसलिए जिन्हें नाक-भौं चढ़ानी हो, मंगलाचरण ही देखकर समझ जाँय और आगे न बढ़ें। आप मंगल करते हैं :—

जय-जय मीन, बराह, कमठ, नरहरि बलि, बावन।
परशुराम, रघुबीर, कृष्ण कीरति जग पावन॥

यद्यपि इस लेख में इनकी कविता का स्वाद कई जगह पाठक-पाठिकाओं को मिलेगा, पर फिर भी एक पृथक् उदाहरण देने को जी चाहता है। कवि कुल गुरु श्री सूरदासजी के बारे में लिखते हुए, आप उनकी कविता की यों आलोचना करते हैं :—

"सूर"-कवित सुनि कौन कवि, जो नहिं सिर चालन करै॥
उक्ति, चोज, अनुप्रास, बरन, सुस्थिति अति भारी।
वचन प्रीति-निर्वाह, अर्थ अद्भुत तुक धारी।
प्रतिबिम्बित दिवि दृष्टि, हृदय हरि-लीला भासी॥
जनम, करम, गुन, रूप, सबै रसना परकासी॥
विमल बुद्धि गुन और की, जो यह गुन श्रवननि धरै।
सूर-कवित सुनि कौन कवि, जो नहिं सिर चालन करै॥

बेशक, सिर हिलने ही लगता है। कहने के तरीके की हद है!

विरोधियों से आपका भी खासा संग्राम हुआ था। पर विजयमाल पड़ी भक्तमाल के संग्रहकर्त्ता के गले।

× × ×

(४)

नामदेव

महाराष्ट्र-प्रान्त के 'पण्ढरपुर' शहर में एक 'वामदेव' नाम के छीपी रहते थे। वे परम वैष्णव और उदार थे। छीपियों को कोई छूता नहीं है; पर वैष्णवों ने इन्हें अपना लिया था। वामदेव जी के एक विधवा लड़की थी। दैव-वश उसके किसी तरह गर्भ रह गया। समय पाकर वह बढ़ा और लोगों को मालूम हुआ। लोगों ने वामदेव जी से कहा कि कहीं जाकर इसे गिरवा दो, नहीं तो जात-पाँत से भी जाओगे; परन्तु वैष्णव वामदेव ने इन लोगों की एक न सुनी। वे लड़की की सावधानी से रक्षा करने लगे। समय आया और उस लड़की के पुत्र-रत्न उत्पन्न हुआ। वामदेव जी ने खूब उत्सव किया। बड़े धूम-धड़क्के के साथ महीनों वैष्णवों का हरि-कीर्तन होता रहा। बालक का नाम "नामदेव" रक्खा गया। यही बालक नामदेव है, जिसने समग्र पर महाराष्ट्र-प्रान्त को जगाया। इसकी उन तीन-चार महाराष्ट्रीय साधु-आत्माओं में गिनती है, जिन्होंने अपना जीवन समाज को अर्पित कर दिया था।

पन्द्रहवें शतक के दूसरे भाग में आप आविर्भूत हुए थे। बड़े होने पर प्रसिद्ध सन्त श्री ज्ञानदेव जी ने आपको दीक्षा दी थी। नामदेव जी ने मन लगाकर विद्याध्ययन किया। सदा गृहस्थ रहे; पर काम, त्यागी 'समर्थ' से भी बढ़कर किए। विरोधी-दल ने इन्हें भी बहुत सताया; पर ये अपने सत्याग्रह पर सर्वदा अड़े रहे और विजय प्राप्त की। इन्हें विरोधियों ने दुःख

भी बहुत दिए, यह बात नाभाजी के छप्पय की प्रहलाद की उपमा से मालूम होती है। इसी उपमा से इनका विजय की ध्वनि भी निकलती है। नाभाजी कहते हैं :—

नामदेव निबंही प्रतिज्ञा, ज्यों त्रेता नरहरिदास * की।

धन्य! जो कुछ भी हो, अन्धकार प्रकाश के साथ बाजी नहीं ले सकता।

महाराज नामदेव जी मराठी-भाषा के ग्रन्थ-लेखक औरकवि तो थे ही; साथ ही उस समय की भावी राष्ट्रभाषा हिन्दी के भी बड़े ऊँचे कवि थे। हिन्दी पर आपका पूरा अधिकार था। शब्दों और मुहाविरों का प्रयोग तो आपने ऐसा किया है कि हिन्दी भाषाभाषी कवि भी दंग हैं। कुछ नमूने देखिये :—

बदी क्यों ना होइ माधौ मो सों ?
ठाकुर तें जन, जन तें ठाकुर, खेल परयो है तो सों॥
आपन देव देहरा आपन, आप लगावै पूजा।
जल तें तरँग, तरँग तें है जल,कहन सुननको दूजा॥
आपहि गावै, आपहि नाचै, आप बजावै तूरा।
कहत "नामदेव" तू मेरो ठाकुर, जन ऊरा तू पूरा॥

एक और :—

होली

मोर पिया बिलम्यो परदेस होरी मैं कासौं खेलौं।
घरी पहर मोहिं कल न परतु है, कहत न कोउ उपदेस॥
झरे पात बन फूलन लागे, मधुकर करत गुँजार।
हा हा करौं कन्थ वर नाहीं, को मोरि सुनै पुकार॥

---

* प्रहलाद

जा दिन तें पिय गवन कियो है, सिंदुरा न पहिरों मंग ।
पान फुलेल सबै सुख त्यागे, तेल न लावों अंग ॥
दामिनि दमकि घटा घहरानी, विरह उठै घन घोर ।
चित चातक ह्वै दादुर बोलै, वहि बन बोलत मोर ॥
प्रीतम को पतिया लिख भेजौं, प्रेम-प्रीति मसि लाय ।
बेगि मिलो जन 'नामदेव' को, जनम अकारथ जाय ॥

कहिए, क्या भाव हैं ? कैसी भाषा है और किस प्रकार के माधुर्य का प्रसाद है ? यह एक महाराष्ट्र की हिंदी कविता है ।

अन्त में यह कहना पर्याप्त होगा कि महाराष्ट्र को जगाने वाली इनीगिनी आत्माओं में से नामदेवजी का एक विशेष स्थान था ।

× × ×

(५)

कबीर

"कबीर कानि राखी नहीं, वर्णाश्रम षट दरसनी ॥
भक्ति-विमुख जो धर्म, ताहि अधरम करि गायो ।
जोग, जग्य, ब्रत, दान, भजन बिनु तुच्छ दिखायो ॥
हिन्दू तुरक प्रमान, 'रमैनी' 'सबदी' 'साखी' ।
पक्षपात नहिं बचन, सबहिं के हित की भाखी ॥
आरूढ़ दसा ह्वै जगत पर, मुख देखी नाहिन भनी ।
कबीर कानि राखी नहीं, वर्णाश्रम षट दरसनी ।"

ऊपर के छप्पय में कबीर जी की सब हार्दिक बातें आ गईं । शेष ये हैं कि आप जाति के जुलाहे थे । रामानन्द जी के शिष्य थे । निवास इन्होंने भी वही विरोधियों की गढ़ी "काशी" चुना था । कबीर जी स्वभाव के बड़े खरे थे । सीधी सीधी सुनाते

थे। बड़े पहुँचे हुए थे। गृहस्थी में रहते हुए विदेह थे। वैष्णव थे, अवतारवादी थे; पर मूर्तिपूजक न थे। भगवान के भजन के बिना और सब ढोंग समझते थे। इन्होंने 'रमैनी' 'शब्दी' और 'साखी' बड़ी अनूठी कही हैं। इसलिए लोगों ने कहा है :—

"जो कुछ रहा सो जोल्हा कहिगा, अब जो कहै सो जूँठी।"

इनके वचनों के प्रसिद्ध गुरु नानकदेव जी भी बड़े कायल थे। कबीर जी के बहुत अधिक बचन 'ग्रन्थ साहिब' में उद्धृत हैं। यों तो नामदेव आदि और कितने ही भक्तों के वचनों को 'ग्रन्थ साहिब' में स्थान मिला है; पर कबीर जी का उत्कर्ष कुछ और ही है। स्वयं गुरु नानकजी ने कबीर जी को अपना गुरु कई जगह लिखा है। कबीरजी के इस उत्कर्ष का भी कुछ ठिकाना है ? हीरे को जौहरी परखता है। रत्न सोने ही में जड़ा जाता है।

कबीरजी का जीवन-काल पन्द्रहवें शतक के उत्तरार्द्ध से सोलहवें शतक के अन्तिम भाग तक है। धर्म के विरोधियों से कबीर जी जिस वीरता से लड़े, उस ढंग से कोई न लड़ा। आप बड़े ही फक्कड़ और पहुँचे हुए सिद्ध थे। बड़े भारी आत्म-ज्ञानी थे। और ग्रन्थों के अतिरिक्त "बीजक" नाम का एक बड़ा उत्कृष्ट ग्रन्थ आप ने लिखा है। इसकी अब तक बहुत-सी अच्छी-अच्छी टीकाएँ भी बन चुकी हैं। प्रख्यात साहित्य-सेवी रीवाँ-नरेश श्री रघुराजसिंह देव के पिता श्री विश्वनाथसिंह देवजी ने भी इस पर बड़ी अच्छी टीका की है।

बीजक अध्यात्म- ग्रन्थ है, पर प्रक्रिया कहीं कहीं बिलकुल भिन्न है :—

"कबीर कानि राखी नहीं, वर्णाश्रम षटदरसनी।"

इसमें अद्वैत वेदान्त का खण्डन भी है। बीजक का विषय है भक्तिमिश्रित अध्यात्म-ज्ञान।

और सब बातें कबीरजी की प्रसिद्ध ही हैं। कबीर जो स्वयं भारत के बच्चे-बच्चे से इस प्रकार छिपे नहीं हैं, जैसे चक्षुष्मानों से सूर्यदेव। इसी कारण इनकी और-और बातों के लिखने में न लगकर, केवल इनके कुछ उपदेश-वचन यहाँ दे देना आवश्यक समझते हैं।

कबीर की साखी

सत्संग

'कबीर' संगत साधु की, निष्फल कभी न होय।
होवे चन्दन वासना, नीम कहै नहिं कोय॥
'कबीर' खाई कोट की, पानी पिये न कोय।
जाय मिलै जब गंग से सब गंगोदक होय॥
मूरख से क्या बोलिए, सठ से कहा बसाय।
पाहन में क्या मारिए, चोखा तीर नसाय॥
दाग जो लागा नील का, सौ मन साबुन धोय।
कोटि जतन भल कीजिए, नीम न मीठो होय॥

पतिव्रता

पतिबरता को सुख घना, जाके पति है एक।
मन मैली बिभिचारिनी, जाके खसम अनेक॥
पतिबरता मैली भली, काली, कुचिल, कुरूप।
पतिबरता के रूप पर, वारौं कोटि सरूप॥

पारखी

जब गुन को गाहक मिलै, तब गुन लाख बिकाय ।
जब गुन को गाहक नहीं, तब कौड़ी बदले जाय ॥
हीरा तहाँ न खोलिए, जहँ हो खोटी हाट ।
कसि कै बाँधो गाठरी, उठिकै चालौ बाट ॥
हंसा बगुला एकसा, मानसरोवर माहिं ।
बगा ढँढोरै माछरी, हंसा मोती खाहिं ॥

कबीरजी के शब्द

चेतावनी

कौनो ठगवा गठरिया लूटल हो ।
चन्दन काठ कै बनल खटोलना, तापर दुलिहिन सूतल हो ।
उठोरी सखी मोरी माँग सँवारो, दुलहा मोंसे रूसल हो ।
आये जमराज पलँग चढ़ि बैठे, नैनन आँसू टूटल हो ।
चारि जने मिलि खाट उठाइन, चहुँ दिस "धूँ-धूँ" ऊठल हो ।
कहत 'कबीर' सुनो भाई साधो, जग से नाता छूटल हो ।

प्रेम

हमन हैं इश्क मस्ताना, हमन को होशियारी क्या ?
रहें आज़ाद इस जग में, हमन दुनिया मे यारी क्या ?
जो बिछुड़े हैं पियारे से, भटकते दर-बदर फिरते ।
हमारा यार है हम में, हमन को इन्तज़ारी क्या ?
ख़लक सब नाम अपने को बहुत कर सिर पटकता है ।
हमन गुरु नाम साँचा है, हमन दुनिया से यारी क्या ?
न पल बिछुड़े पिया हमसे, न हम बिछुड़ें पियारे से ।
उन्हीं से प्रीति लागी है, हमन को बेक़रारी क्या ?

'कबीरा' इस्क का माता दुई को दूर कर दिल से।
जो चलना राह नाजुक, है हमन सिर बोझ भारी क्या ?

बस, अब अधिक नहीं बढ़ा सकते; यद्यपि दिल नहीं मानता, वह कहता है—चलो—चलो ! इसी पथ पर चलो चलो ! परन्तु डर है कि बात बहुत बढ़ जायगी। इसलिए अब इसे यहीं छोड़ते हैं।

(५)

कूबाजी

कूबाजी को हुए तीन सौ वर्ष के लगभग हुए हैं। ये जाति के कुम्हार थे। वैष्णव-धर्म्म में आकर यहाँ तक उन्नति की थी कि आचार्य्यवत् हो गए। वैष्णव इनके नाम का एक 'द्वारा' ही पृथक् मानते हैं। कूबाजी का अपने समय में अद्वितीय प्रभाव था। ये उतने प्रसिद्ध अब नहीं हैं, जितने और-और इस प्रकार के भक्त। इसका कारण यह है कि औरों के समान इन्होंने कविता आदि कुछ न की थी, अतः नाम बिना आधार के कहाँ ठहरे। पर, जानने वाले जानते हैं। भक्तमाल में लिखा है:—

कहत कुम्हार जग कुल-निसतार कियो,
"कूबा" रहै नाम साधु-सेवा अभिराम है।
आये बहु सन्त प्रीति करी लै अनन्त,
जाको अन्त कौन पावे ऐपै सीधो नहीं धाम है॥
बड़ी ए गरज चले करज निकासिबे कौं
बनिया न देत कुवाँ खोदौ कीजै काम है।
कही बोल कियो तौल लियो नीके रोल करि,
दिन सों जिवाँए जिन्हैं प्यारो एक श्याम है॥

उपसंहार

इन और इन्हीं जैसे अन्य सैकड़ों अद्भुत सन्तों और भक्तों ने जो कुछ भारत का उपकार किया है, वह अनवद्य और वाक् के अगोचर है। यदि और किसी देश में ये हुए होते तो न मालूम इनका कितना आदर होता; और बाद में होता इनके नाम का। उस देश के मनुष्य जन्म-जन्मान्तर इनके ऋणी रहते। ऋणी तो हम भी हैं; पर उस ऋण को मानते तो नहीं। हम तो इतने कृतघ्न हैं कि आज तक इनमें से किसी का भी जीवन-चरित्र ही सुसम्पादित करके भली-भांति प्रकाशित न कर सके! इधर किसी का कभी ध्यान ही नहीं जाता। कृतघ्नता का भी कोई ठिकाना है?

श्री मीराबाई के गुरुदेव

श्री वियोगी हरिजी ने तथा और कई विद्वानों ने लिखा है कि प्रसिद्ध भक्त श्री मीराबाई जी के गुरु श्री जीवगोस्वामी जी थे, जो श्रीकृष्ण चैतन्य देव जी की सम्प्रदाय के वैष्णवाचार्य थे। प्रमाण में आप ने एक पद्य दिया है। कहते हैं, यह पद्य मीराबाई का बनाया है और इसमें श्रीकृष्ण चैतन्य देव जी का वर्णन है अतएव सिद्ध है कि मीरा जी इसी सम्प्रदाय की थीं और श्री जीव गोस्वामी जी की शिष्या थीं। वह पद्य यह है:—

"अब तौ हरीनाम लौ लागी।
सब जग को यह माखन चोरा, नाम धर्यो बैरागी।
कित छोड़ी वह मोहन मुरली, कित छोड़ीं सब गोपी॥
मूँड़ मुड़ाइ डोरि कटि बाँधी, माथे मोहन टोपी।

मात जसोमति माखन कारन, बाँधै जाको पाँई।
स्याम किसोर भये नव गोरा, चैतन जाको नावँ।
पीताम्बर को भाव दिखावै, कटि कोपीन कसै।
गौर कृष्ण की दासी मीरा रसना कृष्ण बसै।

इसी पद्य के आधार पर आप का कथन स्थिर है। पर, विचार करने से यह कथन ठीक नहीं मालूम होता और जान पड़ता है कि मीराबाईजी भक्तवर श्री रैदासजी की ही शिष्या थीं।

श्री वियोगीहरिजी ने जो पद्य प्रमाण में दिया है उसके मीरा-कृत होने में भी कुछ सन्देह ही है। कारण यह है कि मीराजी के पदों में थोड़ी बहुत मारवाड़ी लटक जरूर रहती है, पर, इस पद्य में वह बात नहीं है। स्पष्ट मालूम होता है कि मीराजी के ये अक्षर नहीं हैं। सूर, तुलसी, और मीरा के नाम से बहुत से भजन बना-बना कर लोगों ने चला दिये थे। खंजरी बजाकर गानेवालों से सुनिए, उनके प्रत्येक भजन में 'तुलसीदास भजो भगवाना' लगा ही रहेगा। किन्तु इस से यह मतलब नहीं निकाल सकते कि वे सब गीत गोस्वामी श्री तुलसीदासजी के ही हैं। यही बात सूर और मीरा के विषय में भी है।

और, यदि मान भी लिया जाय कि उक्त पद्य मीराजी का ही है, तो भी यह तो कभी भी सिद्ध नहीं हो पाता कि वे श्रीकृष्ण चैतन्य के सम्प्रदाय के वैष्णवाचार्य श्री जीव गोस्वामीजी की शिष्या थीं। श्री कृष्ण चैतन्य देव का वर्णन करने से ही वे उस सम्प्रदाय की नहीं समझी जा सकतीं, जब तक उसके लिए कोई प्रबल प्रमाण न हो। इस प्रकार के वर्णनो से यदि ऐसा-ऐसा मतलब निकाला जाने लगे, तो इतिहास और साहित्य में एक भारी उथल-पुथल मच जाय।

सम्भव है, वृन्दावन में श्री जीव गोस्वामीजी के परिचय से उन पर श्री कृष्ण चैतन्य देवजी के सम्प्रदाय की छाप मीराजी के मानस पर लग गयी हो और उसी का प्रतिबिम्ब ऊपर दिया हुआ वह पद्य हो। परन्तु, इससे यह मतलब निकालना कि मीरा जी के गुरु ही श्री जीव गोस्वामीजी थे, ठीक नहीं।

वस्तुतः मीराजी के गुरु भक्तवर रैदास जी थे। इस बात को मीरा जी ने स्वयं लिखा है—साफ़ कहा है कि मेरे गुरु श्री रैदासजी हैं। देखिए:—

"मीरा मन मानी, सुरत सैल असमानी।
खोजत फिरौं भेद वा घर को, कोई न करत बखानी।
रैदास सन्त मिले मोहिं सतगुरु, दीन्ह सुरत सहदानी।
मैं मिली जाय धाय पिय अपना, तब मोरी पीर बुझानी।
मीरा खाक खलक सिर डारी, मैं अपना घर जानी।"

इस पद्य में साफ़-साफ़ मीराजी ने अपना गुरु श्री रैदास जी को बतलाया है। ध्यान देने की बात है कि इस पद्य की शैली भी रैदास जी की शैली से बिलकुल मिलती हुई है। एक दो जगह नहीं, कितने ही पदों में मीराजी ने रैदास जी को अपना गुरु बतलाया है। उदाहरण के लिए एक पद्य का कुछ अंश और लीजिए:—

"मेरा मन लागो हरि जी सूं, अब न रहूँगी अटकी।
गुरु मिलिया रैदासजी दीन्ही ज्ञान की गुटकी।"

इन प्रमाणों का पूर्ण खण्डन किये बिना और अपने पक्ष में वैसे प्रबल प्रमाणों के बिना यह कह देना कि मीराजी के गुरु रैदासजी नहीं, श्री जीव गोस्वामी जी थे, केवल राजाज्ञा है। इसके सिवाय क्या कहा जाय।

ऐतिहासिक दृष्टि से भी रैदासजी की अवस्थिति मीराजी के उदय तक पायी जाती है। 'भक्तमाल' में श्री नाभाजी ने लिखा है कि चित्तौड़ की 'झाला' नाम की रानी काशी जाकर रैदासजी की शिष्या बनीं। ये 'झाला' जी कौन थीं? इतिहासज्ञों को इस पर प्रकाश डालना चाहिए।

बहुत सम्भव है कि तात्कालिक राज परिवार ने मीराजी का विरोध इसीलिए किया हो कि वे एक चमार की चेली बन गयी थीं। परन्तु, ये ऐसे-वैसे चमार न थे, साक्षात ब्रह्म-द्रष्टा थे। लौकिक दृष्टि से विरोध करने वालों के मन में यह बात आयी नहीं कि मीराजी लोक-सीमा से परे निकल गयी हैं; ये उस नशे में चूर हैं, जिसे 'प्रेम-लक्षणा' भक्ति कहते हैं और जिस से भक्त 'क्वचि-द्धसति गायति रौति क्वाऽपि' जैसी प्रमत्त-चर्य्याएँ करने लगता है। वह अपने आपे में नहीं रहता। वह समस्त लोक-मर्यादाओं का उल्लंघन कर जाता है। यह सब वह उस आवेश में ही करता है। अतएव लौकिक नियमों के आधार पर उसका विरोध करना केवल अज्ञान है। परन्तु, मोह-मदिरा पीने वाले सांसारिक जनों को इस बात का ध्यान नहीं रहता। उन बेचारों को उस प्रेम के पन्थ का क्या पता?

पर, जो सांसारिक जीव हैं, उन्हें संसार की सब मर्यादाओं का पालन करना ही होगा। ऐसा किये बिना पातित्य अवश्यम्भावी है।

श्यामसुन्दर-निबन्ध-माला

के

शीघ्र प्रकाशित होने वाले निबन्ध

१—वीर-साहित्य

इस में साहित्य-शास्त्र की दृष्टि से वीर-रस पर खूब विचार किया गया है। शृंगार का रस-राजत्व खंडन करके वीर-रस को रस-राज सिद्ध किया गया है; और, अनेक लौकिक दृष्टियों से वीर रस की उपादेयता सिद्ध की गयी है। साथ ही, धर्म-युद्ध का महत्त्व बड़ी अच्छी तरह समझाया गया है। मूल्य लगभग ।=)

२—युगल-शतक

प्रसिद्ध वैष्णवाचार्य्य श्री श्रीभट्टजी महाराज का लिखा हुआ यह अनुपम ग्रन्थ रत्न है। उक्त आचार्य्यवर्य्य दाक्षिणात्य होते हुए भी ब्रज-भाषा के आचार्य्य थे। आपकी कविता किसी भी सर्वोत्कृष्ट ब्रज-भाषा के कवि से किसी भी बात में कम नहीं है। कहीं कहीं तो 'सूर' से भी आप बहुत आगे बढ़ गये हैं! पर, खेद है कि आप की कृति अभी तक प्रकाशित नहीं हो सकी! इस निबन्ध-माला में शीघ्र ही आपका अनुपम ग्रन्थरत्न 'युगल-शतक' निकलेगा और इस ठाठ से निकलेगा कि रसिक जन देखते ही लोट-पोट हो जायँगे। न्योछावर लगभग ॥)

सिर्फ पत्र भेज कर स्थायी ग्राहक बनिए! प्रवेश-शुल्क की आवश्यकता नहीं।

किशोरीदास वाजपेयी,

सेठिया विद्यालय, बीकानेर

संस्कार क्या हैं ?

यङ्गमैन्ज़ आर्य्य-समाज
ट्रैक्ट सोसायटी लाहौर।

भाग २ संख्या

ॐ

संस्कार क्या हैं ?

ट्रैक्ट नम्बर ११

यंगमैन्ज़ आर्य्य समाज ट्रैक्ट सोसायटी
लाहौर.

मूल्य २ आने] मई १९१७ [Price As. 2.

बाम्बे मैशीन प्रैस लाहौर में छपा ।

निवेदन

पाठक महाशयों की सेवा में यह निवेदन है, कि श्रीमद् दयानन्द एङ्गलो वैदिक कालेज कमेटी की आज्ञानुसार मैं शास्त्रानुसन्धान का काम (Research Work) कर रहा हूं। इसी काम के अन्तर्गत संस्कारों के विषय में भी यथाशक्य अनुसन्धान का काम किया गया है। संस्कार विधि जिन गृह्य सूत्रादि के आधार पर लिखी गई है, उन सब की देख भाल करके संस्कार विधि के ऊपर यह एक व्याख्या लिखी गई है। संस्कार विधि की व्याख्या की आवश्यकता बहुत बड़ी देर से समझी जारही है। अतएव इस व्याख्या का इस समय प्रकाशित होना अतीव उपयुक्त होगा॥

इसमें मन्त्रों के पते और अर्थ भी दिये गए हैं और विधि भी बड़ी स्पष्ट कर दी गई है, संस्कार विधि में जहां लेखक भ्रम से विधि में त्रुटि हुई है, वह ठीक कर दी गई है, और जो मन्त्र बराबर अशुद्ध छपते चले आरहे हैं, उनका पाठ शोध दिया है। इससे इन पुस्तकों द्वारा संस्कार कराने में भी बड़ा सुभीता होगा

और व्याख्यान भी साथ २ विदित होसकेगा। यद्यपि यह सब कुछ पूरे परिश्रम से लिखागया है, तथापि संस्कारों के विषय में नया नया अनुसन्धान बहुत काल बराबर होता ही रहेगा, और बहुत सी बातें ऐसी भी हैं, जिनका अभिप्राय अभी स्पष्ट नहीं होसका ॥

इस पुस्तक में संस्कारों की भूमिका ही दीगई है इससे आगे क्रमशः सारे संस्कार एक २ करके छपेंगे ॥

राजाराम,

२० वैशाख सं० १९६०

* संस्कारों की भूमिका *

पं० राजाराम जी प्रोफैसर लिखित ।

(कर्म और उसका फल)

यह सारा विश्व दिन रात कर्म में लगा रहता है। इस कर्म का ही यह फल है, कि इस में जीवन है, सौन्दर्य्य है और प्रकाश है। यदि इस में कर्म न होता तो न इस में जीवन होता, न सौन्दर्य्य होता, न प्रकाश होता। न कुछ भोग्य होता, न कोई भोक्ता होता। और यदि आदि में ही कर्म न होता। तो यह विश्व उत्पन्न ही न होता। अतएव कर्म्म ही इस जगत की सारी महिमा का हेतु है॥

वेद का उपदेश।

जब इस जगत में कर्म ही कर्म हो रहा है, तो यहां वही महान् हो सकता है जो कर्म में महान् हो। अतएव भगवान् वेद का उपदेश है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।

(यजुर्वेद ४०—२)

(हे मनुष्य !) कर्मों को करता हुआ ही यहां सौ वर्ष जीने की इच्छा कर।

कर्म के चार भेद।

कर्म चार प्रकार का होता है उत्पत्ति, आप्ति, संस्कार और विकार।

उत्पत्ति कर्म—उत्पन्न करना वा बनाना जैसे अनाज का उत्पन्न करना और बर्तनों का बनाना।

आप्ति कर्म—प्राप्त करना, जैसे खान में से सुवर्णादि धातुओं को निकालना।

विकार कर्म—विकार के दो भेद हैं, रूपान्तर करण और विनाश।

रूपान्तर कर्ण—दूसरे रूप में बदल देना जैसे दूध को दही के रूप में वा लोहे को शस्त्र अस्त्र और यन्त्रों के रूप में।

विनाश—Decompose जैसे लकड़ी को जला देना

संस्कार कर्म—किसी विद्यमान वस्तु को उत्तम बनाना उसका संस्कार कहलाता है*।

संस्कार कर्म दो प्रकार से होता है, जैसाकि **श्री शंकराचार्य्य** लिखते हैं:—

---

* नोट—जिसका संस्कार किया जाय उसे संस्कार्य कहते हैं, और करने वाले को संस्कर्त्ता॥

संस्कारोहि गुणाधानेन वा स्याद् दोषायनयेन वा ।

अर्थ—संस्कार गुणों के डालने से होता है; वा दोषों के दूर करने से।

गुणों का डालना ।

जैसे तेल को फूलों की वास देकर सुगन्धित बनाना ॥

दोषों का हटाना—जैसे चूने से शीशे पर के मैल को दूर करना। इन दोनों का क्रमशः **आधान** और **शोधन** नाम है।

संस्कार की विशेष व्याख्या ।

इस तरह संस्कार से दो लाभ होते हैं, शोधने से संस्कार्य्य के बाहरी मैल दूर होजाते हैं, और वह शुद्ध (खालिस) बन जाता है। और आधान से उस में एक और नया बल आ जाता है। यह दोनों ही संस्कार हम अपने छोटे २ कार्यों में भी करते रहते हैं। स्त्रियें पकी हुई रोटी को तवे से उतार कर चूल्हे में सेकती हैं, इस से उस पर कुछ भस्म लग जाती है, फिर वह रोटी को वस्त्र से पोंछकर घी से चुपड़ देती हैं।

पोंछने से उसका शोधन करती हैं और चुपड़ने से नये गुण का आधान।

शोधन से तो उसका बाहर से आया दोष दूर होता है, और अब वह शुद्ध हुई रोटी अपना पूरा बल देती है। और आधान से उसकी शक्ति और भी बढ़ जाती है। चुपड़ी रोटी अनचुपड़ी से अधिक बुद्धि और अधिक पराक्रम देती है। इसी तरह पानी का अर्क खींचने से पानी में मिले हुए बाहर के दोष सर्वथा दूर होजाते हैं। और अर्क खींचा हुआ पानी दूसरे पानी की अपेक्षा कई गुणा अधिक बल बुद्धि और पराक्रम का देने वाला बन जाता है। यह उस का शोधन संस्कार है। पर जब उस में गुलाब के फूल डालकर अर्क खींचा जाता है तो उस में एक नया गुण आ जाता है और अब वह निरे अर्क से भी अधिक गुणकारी बन जाता है। वैद्य लोग उसको अन्दर की जमी हुई मलों को उखाड़ने के लिये बर्तते हैं॥

संस्कार की व्यापकता।

संस्कार कर्म ऐसा व्यापक है कि हम अपने रहने

के स्थान का अपने पहिनने के कपड़ों का, अपने बर्तने के बर्तनों और दूसरे सामान का, अपने खाने पीने की वस्तुओं का और अपने पालतू सारे पशुओं का संस्कार करते हैं। जिस पुरुष के पास जितनी संस्कृत वस्तुयें हैं, उतना ही वह सभ्य है, जितनी असंस्कृत हैं उतना ही वह जङ्गली है।

मनुष्य के लिये संस्कार की आवश्यकता।

जिस तरह और सब वस्तुओं का संस्कार होता है, और संस्कार से ही उनका मूल्य और आदर बढ़ जाता है इसी तरह मनुष्य का भी संस्कार होता है। संस्कार से ही उस का भी मूल्य और आदर बढ़ता है।

मनुष्य में संस्कार का बहुत बड़ा प्रभाव।

संस्कार का इतना बड़ा प्रभाव होता है कि एक ही जाति का फल जब उसके बीज पर संस्कार किया जाता है, तो वह अपनी जाति के दूसरे फलों से रंग में आकार में स्वाद में कई गुणा बढ़ जाता है। इसी तरह पशुओं के मूल्य में भी बहुत बड़ा अन्तर आजाता है। पर मनुष्य में तो संस्कार का इतना बड़ा प्रभाव होता है कि जहां एक पुरुष १०) में भी महंगा जचता है, वहां दूसरा

करोड़ों से भी नहीं मिलता है। और एक इतना महान् हो जाता है कि उसका मूल्य डाला जा ही नहीं सक्ता, यह सब संस्कारों का प्रभाव होता है, नहीं तो मनुष्य २ में कोई भेद नहीं ॥

मनुष्य के लिये संस्कारों का नियत करना।

ऋषियों ने जब इस बात को देखा कि हर एक अप्राणी और प्राणी संस्कारों के होने से बहुमूल्य बन जाता है, और मनुष्य में तो उस का सब से विलक्षण फल होता है, तो उन्होंने मनुष्य के जीवन को पूर्ण शक्तिमान् बनाने के लिये संस्कार नियत किये और मनुष्य को महान् बनाने के लिये जहां तक संस्कार से सहायता ली जा सकती थी, ली। अतएव न केवल उत्पन्न हुए मनुष्य का संस्कार नियत किया, किन्तु उससे पूर्व माता के गर्भ में और उससे भी पूर्व माता पिता के अलग २ देह के अन्दर रज वीर्य रूप में ही उनका संस्कार नियत किया। जिस से कि प्रथम तो उसकी उत्पत्ति ही असाधारण हो और फिर उस असाधारण पुरुष को फिर नये संस्कारों से और भी असाधारण बना दिया जाय।

ऐसे संस्कारों के नियत करने में उन्होंने पदार्थविद्या के अनुसार वेद से सहायता ली। अतएव यह संस्कार वैदिक संस्कार कहलाते हैं ॥

नियत वैदिक संस्कारों का फल।

पूर्व लिख आये हैं, कि संस्कार का फल संस्कार्य में से दोष हटाकर उसको शुद्ध और नये गुणों के उत्पन्न करने से उसकी शक्ति को बढ़ाना है, यही फल इन नियत संस्कारों से मनुष्य के लिये अभिप्रेत हैं॥

जैसाकि भगवान् मनु लिखते हैं:—

वैदिकैः कर्मभिःपुण्यैर्निषेकादि द्विजन्मनाम्।
कार्यः शरीर संस्कारःपावनः प्रेत्य चेह च॥२६
गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौड़मौञ्जीनिबन्धनैः।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते॥२७

अध्याय २॥

वैदिक पवित्र कर्मों से द्विजातियों का गर्भाधानादि शरीर संस्कार करना चाहिये, जो इस लोक और परलोक में पवित्र करने वाला है ॥ २६ ॥ गर्भ सम्बन्धी (अर्थात् गर्भाधान पुंसवन और सीमन्तोन्नयन सम्बन्धी) होमों से और जातकर्म चूड़ाकर्म

और उपनयन से द्विजों का वह दोष जो बीज वा गर्भ से आया है दूर होजाता है ॥२७॥

इन दोनों श्लोकों में से दूसरे में संस्कार की शोधन शक्ति बतलाई है । कि मनुष्य के शरीर में जो पैतृक (मौरूसी) दोष आये हैं, वह दूर होजाते हैं । और पहिले श्लोक में यह बतलाया है कि यद्यपि यह संस्कार शरीर के होते हैं, पर इन से शरीर और शरीर में रहने वाला आत्मा दोनों शुद्ध होते हैं । इस लिये संस्कारों की शुद्धि का फल न केवल इस लोक में अपितु परलोक में भी मिलता है । यह इसलिये होता है, कि शरीर द्वारा आत्मा का भी संस्कार होता है।

संस्कार यद्यपि दोनों प्रकार का होता है, शोधन और आधान, पर आत्मा का संस्कार केवल शोधन ही है, आधान नहीं, आत्मा में कुछ डाला नहीं जा सकता उसको शुद्ध कर दो, उस पर जो मैल लगा है, उसको धो डालो, बस इतना ही तुम्हारा काम है, फिर उस में बल सब प्रकार का अपने आप इतना है कि उस में बाहर से किसी बल के डालने की आवश्यकता ही नहीं, और अवकाश भी नहीं। उसका बल थोड़ा इसलिये है कि उस पर मैल है । मैल को धोडालो ।

बल इतना है, कि उसका पारावार नहीं क्योंकि वह बल के उस बड़े स्रोत के साथ मिला हुआ है जो इस सारे ब्रह्माण्ड को थामे हुए है। यह उस में लीन होकर उसके सारे बल को अपना बना लेता है, तब इस की शक्ति को कौन रोक सकता है। इसीलिये संस्कार का काम भगवान मनु ने पवित्र कर देना बतलाया है, आगे सब कुछ अपने आप होजाता है। क्योंकि जो कुछ अपने स्वरूप से बढ़कर ग्रहण करना है वह अपने अन्तर्यामी से ही ग्रहण करना है॥

संस्कार आरम्भ से समाप्ति तक यथा विधि पूरा किया हुआ ही पूरा फलता है।

यह याद रक्खो कि संस्कार का पूर्ण फल उसी समय होता है, जब यह पूर्ण विधि से पूर्ण भी किया जाये। कई एक अवस्थाओं में लोग संस्कार के आरम्भ को ही पूरा समझ लेते हैं। जैसे वेदारम्भ संस्कार वेद पढ़ने के लिये है अतएव उसका आरम्भ वेदारम्भ सम्बन्धी होम से होता है, पर समाप्ति उस की उस समय होती है जब पुरुष पूर्ण विद्वान् और बलवान हो जाता है। जिस के पीछे उसका समावर्तन

संस्कार होता है। और वह स्नातक कहलाता है। इतने समय तक वह शास्त्रानुसार तपस्या का जीवन बिताता है। और विद्याऽध्ययन में पूर्ण परिश्रम करता है। इतना काम यदि यथाविधि पूर्ण किया जाता है तो वेदारम्भ संस्कार पूर्ण होता है। और यदि वेदारम्भ संस्कार का होम करके और गायत्री मन्त्र का उपदेश करके ही छोड़ दिया जाता है तो वह पूरा संस्कार नहीं है। यही हेतु है कि लोग वेदारम्भ करते हुए भी उसके पूर्ण फल के भागी नहीं बनते हैं। पूर्ण फल लेने के लिये संस्कार को शास्त्रानुसार पूर्ण भी करना चाहिये॥

संस्कार की इतिकर्तव्यता।

संस्कार किसतरह करना चाहिये, इसके लिये आचार्यों ने जो पद्धतियां बांधी हैं, उनके अनुसार करना चाहिये। आजकल प्रायः लोग इसकी परवाह नहीं करते, यह उनकी बहुत बड़ी त्रुटि है। जब शास्त्र के अनुसार कर्म ही न किया गया, तो फिर पूरा फल मिलने की क्योंकर आशा होसक्ती है। इसलिये संस्कार बड़ी श्रद्धा से पूर्ण इतिकर्तव्यता के साथ करना चाहिये। किसी यन्त्र के छोटे बड़े पुर्ज़े सब उपयोगी

होते हैं और अपना २ नियत प्रयोजन रखते हैं उनमें से हरएक पुरज़े से जिस विधि से जो काम लेना चाहिये, उसी विधि से वही काम लेने से वह यंत्र उत्तम काम करता है। इसके विपरीत किसी पुरज़े को निकाल देने से वा उसकी नियत विधि के अनुसार काम न लेने से काम पूरा नहीं होता, वा अच्छा नहीं होता वा यंत्र बिगड़ जाता है। इसीलिये किसी इञ्जन को चलाने के लिये कोई सुशिक्षित इंजीनियर नियत किया जाता है, जोकि उसके पुरज़े के प्रयोजन को समझता है। हां दूसरे उस पर यह विश्वास करते हैं, कि इसका हरएक पुरज़ा जहां जिस रीति से रक्खा गया है, वहीं उसी रीति से रहना चाहिये। ठीक इसीतरह कर्मकाण्ड के यंत्र को चलाने वाले ऋषियों ने हरएक कर्म का जो २ अङ्ग जिस रीति पर जहां नियत किया है, उस उस रीति पर वहीं २ पूरा होना चाहिये। जो इसको उलट पलट करता है, वह यंत्र के पुर्ज़ों को उलट पलट करने की तरह इसके अङ्गों को उलट पलट करने से सफल नहीं होता है वा उलटा हानि उठाता है अतएव श्री कृष्ण ने अर्जुन को कहा है ॥

यः शास्त्र विधि मुत्सृज्यवर्तते काम कारतः । न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परांगतिम् ॥ २२ ॥

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्य व्यस्थितौ । ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥ २३ ॥ गीता अध्याय १६

अर्थ—जो शास्त्र की विधि को छोड़कर अपनी इच्छा से बर्तता है, वह न सिद्धि को प्राप्त होता है न सुख को न परमगति को ॥ २३ ॥

इसलिये कार्य और अकार्य (करने और न करने योग्य) की व्यवस्था में शास्त्र तेरे लिये प्रमाण है। शास्त्र विधि मे बतलाया हुआ जानकर तुझे इस लोक में कर्म करना चाहिये ॥ २४ ॥

संस्कार कराने वाले।

गृह्य सूत्रों के अनुसार कई संस्कारों में तो यजमान आपही सारा कृत्य करता है। और आपही मन्त्र पढ़ता है, ब्रह्मा दक्षिण की ओर बैठा हुआ उस सारे कर्म पर दृष्टि रखता है, और मन से मन्त्रोक्त देवता

और उससे फल प्राप्ति का चिन्तन करता है। और कई संस्कारों में ब्रह्मा के साथ यजमान को कर्म कराने वाला एक दूसरा आचार्य होता है। आचार्य और ब्रह्मा तो पूर्ण विद्वान् और धर्मात्मा होने ही चाहियें, इसमें कोई सन्देह नहीं। पर गृह्य सूत्रों के अनुसार यजमान भी विद्वान् होना चाहिये। जो इति कर्तव्यता को समझता हो, और वेदवेत्ता हो। इसीलिये ही सूत्र ग्रन्थ पढ़े लिखे तीनों वर्णों को ही संस्कारों में अधिकार देते हैं पर श्रीस्वामी जी महाराज संस्कार विधि में ऋत्विजों के विषय में यह लिखते हैं॥

ऋत्विजों का लक्षण—"अच्छे विद्वान् धार्मिक, जितेन्द्रिय कर्म करने में कुशल, निर्लोभ, परोपकारी दुर्व्यसनों से रहित, कुलीन, सुशील, वैदिक मत वाले वेदवित् एक दो अथवा चार (ऋत्विजों) का वरण करें। जो एक हो, उसका पुरोहित, और जो दो हों तो ऋत्विक्, पुरोहित, और तीन हों तो ऋत्विक्, पुरोहित और अध्यक्ष, और जो चार हों, तो होता अध्वर्यु उद्गाता और ब्रह्मा (नाम हैं)। इनका आसन वेदी के चारों ओर—अर्थात् होता का वेदी से पश्चिम आसन

पूर्व मुख, अध्वर्यु का उत्तर आसन दक्षिण मुख, उद्गाता का पूर्व आसन पश्चिम मुख, और ब्रह्मा का दक्षिण आसन उत्तर में मुख होना चाहिये। और यजमान का आसन पश्चिम में और वह पूर्वाभिमुख अथवा दक्षिण में आसन पर बैठकर उत्तराभिमुख रहे" ॥

यहां श्री स्वामीजी ने जो ऋत्विजों के लक्षण लिखे हैं, उन पर विशेष ध्यान देना चाहिये। ऐसे पूर्ण विद्वान् सरल हृदय सच्चे विश्वासियों को ही यजमान इस बात के लिये प्रेरे, कि वह कुदरत में बसे हुए अन्तर्यामी परमात्मा की वेद मन्त्रों द्वारा महिमा गावें, और उस अधिपति से यजमान के लिये, उसके परिवार के लिये, और सब के लिये स्वस्ति, शान्ति और वृद्धि मांगे ॥

अब यजमान के विषय में श्री स्वामी जी यह लिखते हैं—"सब संस्कारों में मधुर स्वर से मन्त्रोच्चारण यजमान ही करे। न शीघ्र न विलम्ब से उच्चारण करे, किन्तु मध्य भाग जैसा, कि जिस वेद का उच्चारण है वैसा करे। यदि यजमान न पढ़ा हो, तो इतने मन्त्र तो अवश्य पढ़ लेवे। यदि कोई कार्य कर्ता जड़ मन्दमति काला अक्षर भैंस बराबर जानता हो, तो वह शूद्र है,

अर्थात् शूद्र मन्त्रोच्चारण में असमर्थ हो, तो पुरोहित और ऋत्विज् मन्त्र उच्चारण करें, और कर्म उसी मूढ़ यजमान के हाथ मे करावें ॥

इस कथन से श्री स्वामीजी महाराज का यह आशय पाया जाता है कि वेद का जानना और वैदिक कर्मों का करना हरएक मनुष्य के लिये अत्यावश्यक है। क्योंकि यह उसका धर्म है। पर यदि कोई पुरुष वेद नहीं पढ़ा, तथापि उसको कर्म का त्याग नहीं करना चाहिए। क्योंकि कर्म अवश्य फलता है, हां विद्या के साथ कियां हुआ अधिक फल देता है, जैसा कहा है :—

उभौ कुरुतो, यश्चैतदेवं वेद, यश्च न वेद। नाना तु विद्या चाविद्या च। यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा, तदेव वीर्यवत्तरं भवति।

(छान्दोग्य उप०)

कर्म दोनों ही करते हैं, जो इसको ठीक २ जानता है, और जो नहीं जानता है, पर विद्या और अविद्या भेद रखती हैं, जो विद्या श्रद्धा और उपनिषद् (रहस्य ज्ञान) के साथ किया जाता है, वही अधिक शक्तिवाला होता है ॥

यं   ान को अवश्य विद्यावान् होना चाहिये। शास्त्र का मर्यादा है, " विद्वान् यजेत विद्वान् याजयत् " विद्वान् यज्ञ करे विद्वान् यज्ञ कराए। पर संस्कारका त्याग किसी अवस्था में न करे, चाहे एक अक्षर भी न पढ़ा हो। कर्म का प्रधान रखकर भी श्रीस्वामीजी का अन्तरीय अभिप्राय यह अवश्य था. कि कोई भी पुरुष मनुष्य जन्म में आकर वेद ज्ञान के अमृत से खाली न रहे, इसलिये अनपढ़ पर अधिक आक्षेप भी किया है॥

उपस्थित कर्म में लवलीन होना।

जो कर्म किया जारहा है. उसमें कराने करने और देखने वालों को ऐसा लवलीन होजाना चाहिये। कि उपस्थित कर्म के सिवाय वृत्ति कहीं न दौड़े, इससे कर्म का फल बढ़ता है। अतएव श्रीस्वामीजी लिखते हैं— " इन ऋत्विजों को सत्कार पूर्वक आसन पर बैठाना और वे प्रसन्नता पूर्वक आसन पर बैठें और उपस्थित कर्म के विना दूसरा कर्म वा दूसरी बात कोई भी न करे॥

सामान्य विधि ।

(१) जब कभी कोई नैमित्तिक होम करना हो, तो यह विधि सब से पहिले करनी चाहिये। संस्कारों में भी सर्वत्र में यह विधि व्याहृत्याहुतियों तक ठीक इसी क्रम से पहिले करली जाती है। व्याहृतियों से पहली आहुतियों के क्रम में तो भेद होजाता है, पर प्रायः आहुतियें यह भी दीजाती हैं। इसलिये इसका नाम **सामान्य-विधि** है। और इसीलिये इसको अलग सब से पहिले रक्खा है॥

(२) यजमान कार्यारम्भ से पूर्व ऋत्विजों को वरण करता है :-

यजमान—**ओ३म्—आ वसोः सदने सीद**=यज्ञ के स्थान पर बैठिये॥

ऋत्विज—**ओ३म्—सीदामि**=बैठता हूं॥

यजमान—**ओ३म्—अहमद्योक्तकर्मकरणाय भवन्तं वृणे**=मैं आज अमुक कर्म करने के लिये आपको वरता हूं॥

ऋत्विज—**ओ३म्—वृतोऽस्मि**=मैं स्वीकार करता हूं॥

(३) यह ऋत्विज् एक दो तीन वा चार यथा सम्भव वा यथाशक्ति होसक्ते हैं॥

(४) यजमान सदा पश्चिम में पूर्वाभिमुख बैठे, उसके साथ उसके दाएं हाथ पत्नी बैठे ॥

(५) ब्रह्मा दक्षिण में उत्तराभिमुख बैठे। शेष ऋत्विज पूर्व उत्तर में बैठें ॥

(६) आचमन विधि—यजमान और ऋत्विज इन तीन मन्त्रों से पढ़के तीन आचमन करें :—

ओं अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा ।

अर्थ—तू अमृत का फर्श है * (तुझपर जीवन की स्थिति है) स्वाहा ॥

ओं अमृतापिधानमसि स्वाहा ।

अर्थ—तू अमृत (जीवन) का ढकना है * स्वाहा ॥

* अमृत = जीवन। जीवन के प्रादुर्भाव में और जीवनकी स्थिति में जल प्रधान हेतु है, इसीलिए जीवन जल का नाम भी है। सो जल जीवन का फर्श है, इस पर जीवन खड़ा होता है। और यह ढकना है अर्थात् जीवनको ढांपे रखता है। क्योंकि जलोंके यथाविधि प्रयोगसे रोग दूर होते हैं स्वास्थ्य बढ़ता है, और आयु बढ़ती है जलों की इस शक्ति का वर्णन ऋग्वेद में इसतरह पर है :—

ओं सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयतां स्वाहा ॥

अर्थ—तू सचाई, यश और शोभा है *, मुझमें शोभा आश्रय लेवे, स्वाहा ॥

अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजमपामुत प्रशस्तये ।
देवा भवत वाजिनः (ऋग्वेद १।२३।१९)

अर्थ—जलों के अन्दर अमृत (जीवन) है जलों में औषध है, सो हे विद्वानों जलों की उत्तमता के लिए वेगवान् बनो "जलों में सब रोगों की औषध है अर्थात् जल के उचित प्रयोग से सब रोग निवृत्त हो सकते हैं। आज कल पश्चिम जल के चिकित्सक (Hydropathists) भी यह कहते हैं कि यदि किसी रोग की चिकित्सा जल से न हो सके, तो निश्चय जानो कि किसी भी औषध से नहीं हो सकेगी। जलों में अमृत है अर्थात् जलों के उचित प्रयोग करने वाला दीर्घजीवी होता है जैसा कि इस मन्त्र में कहा है:—

आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे मम
ज्योक् च सूर्यं दृशे (ऋग्वेद १।२३।२१)

अर्थ—हे जलो (मेरे शरीर में) तुम औषध भरदो जोकि मेरे शरीर के लिए कवच (जिरह बख्तर) हो, जिससे कि मैं चिरकाल तक सूर्य को देखूं ॥

* जल मनुष्य में ईश्वर प्रेम, धर्मानुष्ठान, मधुर

अंगन्यास।

(१) आचमन के पीछे अङ्गन्यास करे। दाएं हाथ की अंगुलियों से जल को छू छूकर इन छः मन्त्रों से

सत्यभाषण आदि दैवी प्रकृति के जनक होते हैं जैसा कि :—

इदमापः प्रवहत यत्र किञ्च दुरितं मयि।

यद्वाहमभिदुद्रोह यद्वा शेप उतानृतम् (१।२३।२२)

हे जलो इसको बहादो, जो कुछ मुझमें दुर्गुण है, वा जो कुछ मैंने द्रोह किया है, वा अप्रिय कहा है अथवा झूठ बोला है (अर्थात् इनके संस्कारों को हमारे हृदय से मिटादो) इस वर्णन में जल के अन्तर्यामी परमात्मा को मुख्य करके अन्तःकरण से खोटे संस्कारों के मिटाने की प्रार्थना है, केवल भौतिक जल से नहीं॥

आः=आभा, कान्ति, तेज, यह शरीर में जलस्थ अग्नि (Heat) से उत्पन्न होता है जैसा कि :—

आपो अद्यान्वचारिषं रसेन समगस्महि।

पयस्वानग्न आगहि तं मा सं सृज वर्चसा॥

ऋग्वेद (१।२३।२३)

अर्थ—जलों का अब हमने उचित प्रयोग किया है रस से हम संगत हुए हैं। जल से मिले हुए हे अग्नि आओ, और मुझे तेज से युक्त करो॥

अंगों को स्पर्श करे। जो अङ्ग दुहरे हैं (जैसे आंखें) उनमें से पहले दाएं फिर बाएं को ॥

ओं वाङ् म आस्येऽस्तु=मेरे मुख में वाणी हो (इस से मुख को) ॥

ओं नसोर्मे प्राणोऽस्तु=मेरे नथनों में प्राण हो (इससे नासों को) ॥

ओं अक्ष्णोर्मे चक्षुरस्तु=मेरे नेत्रों में दृष्टि हो (इस से नेत्रों को) ॥

ओं कर्णयोर्मे श्रोत्रमस्तु=मेरे कानों में सुनने की शक्ति हो (इससे कानों को) ॥

ओं बाह्वोर्मे बलमस्तु=मेरी भुजाओं में बल हो (इस से भुजाओं को दोनों हाथों से एक साथ स्पर्श करे)॥

ओं ऊर्वोर्मे ओजोऽस्तु=मेरी रानों में बल हो (इससे रानों को) ॥

ओं अरिष्टानिमेऽङ्गानि तनूस्तन्वा मे सह सन्तु।

मेरे सारे अङ्ग मेरे शरीर के साथ नीरोग हों,

(इस मन्त्र से सिर से लेकर पाओं तक सारे अङ्गों का स्पर्श करे) ॥

अग्न्याधान ।

(८) अब समिधाओं को कुण्ड में चिनकर घृत का दीपक जला उस दीपक से " **ओं भूर्भुवः स्वः** " पढ़कर कर्पूर को जलाकर पात्र में रक्खे, वा उक्त मन्त्र पढ़कर किसी द्विज के घर से अग्नि लावे ॥

(९.) और इस मन्त्र से कुण्ड में स्थापन करे :-

ओं भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा । तस्यास्ते पृथिवि देवयजनि पृष्ठेऽग्नि मन्नादमन्नाद्यायादधे । (य० ३।५)

अर्थ—तू जो महिमा में द्यौ की तरह और फैलाव से पृथिवी की तरह है उस तुझ की पीठपर हे देवयजनि !*

---

* देवयजनी पृथिवी वेदी है, जिस पर देवताओं के लिए यज्ञ किया जाता है। द्यौ की महिमा प्रकाश से है, और पृथिवी सब चराचर का आश्रय है। वेदी भी यज्ञ के द्वारा जगत् में ज्ञान का प्रकाश लाती है और वृष्टि आदि द्वारा सब चराचर को पोषण करती है।

पृथिवी ! अन्न खाने के लिए (होमे हुए) अन्न के खाने वाले अग्नि को स्थापन करता हूं ॥

(१०) फिर उस स्थापित अग्नि पर छोटी २ समिधा, वा कपूर रखकर अथवा पंखे के वायु से प्रज्वलित करता हुआ यह मन्त्र पढ़े :—

ओं उद्बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि त्वमि-ष्टापूर्ते सꣳसृजेथा मयं च । अस्मिन्त्सधस्थे अध्युत्तरस्मिन् विश्वेदेवा यजमानश्च सीदत।

(यजु० १५ । ५४)

अर्थ—हे अग्ने ! सावधान हो, जाग, तू और यह (यजमान) दोनों मिलकर इष्ट और पूर्त * को पूरा

अन्न खाने से तात्पर्य्य स्वस्थ रहने और दीर्घजीवी होने से है ॥

* कर्मों के मुख्य दो भेद हैं इष्ट और पूर्त। इष्ट वह है जिनकी इतिकर्त्तव्यता वेदमन्त्रों से होती है जैसे अग्निहोत्र। पूर्त वह दूसरे सर्वोपकारी कर्म हैं, जिनकी आज्ञा वेद में है, पर विधि लौकिक होती है, जैसे सर्व साधारण के लिए बाग, कुयें वा तालाव लग-वाना, पाठशालाएं, पुस्तकालय और अनाथालय स्थापन

करो । और उस उत्तम मिल बैठने के स्थान पर हे सारे देवताओ तुम और यजमान बैठो *

(११) फिर चन्दन वा ढाक आदि की आठ २ अंगुल की तीन समिधाएं घी में डुबाकर उनमें से एक इस मन्त्र से अग्नि में डाले :-

ओं अयं त इध्म आत्मा जातवेदस्तेने-ध्यस्व वर्धस्व चेद्ध वर्धय चास्मान् प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन समेधय स्वाहा, इदमग्नये जातवेदसे इदं न मम ॥ १ ॥

करना । इनमें से इष्ट कर्म्म तो अग्नि में ही किए जाते हैं, पर पूर्त कर्म्मों के आरम्भमें भी होम करनेका विधान इससे पाया जाता है ॥

* यज्ञ में यजमान और ऋत्विजों के सङ्कल्प बल से और यथाविधि होम करने से अधिदैवत वा अध्यात्म शक्तिएं प्रकट होती हैं, इसलिए यज्ञ स्थान यजमान और देवताओं के मिल बैठने का स्थान है ॥

अर्थ–हे जातवेदस * (हे अग्ने) यह समिधा तेरा शरीर है, इससे तू चमक और बढ़ और हमें चमका और बढ़ा प्रजा (पुत्रादि) से, पशुओं से, वेद के तेज से, और खाने योग्य अन्न से। स्वाहा † यह जातवेदस अग्नि के लिये है, यह मेरा नहीं † ॥

१२–अगले दो मन्त्रों से दूसरी समिधा अग्नि में डाले ॥

ओं समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्। आस्मिन् हव्या जुहोतन (स्वाहा इदमग्नये इदं नमम)। ओं सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन। अग्नये जात

* जातवेदस, जिससे धन उत्पन्न हुआ है। रत्न आदि की उत्पत्ति में हेतु भूत अग्नि को जातवेदस कहा है। स्वाहा, शुभ आहुति अर्थात् यह आहुति शुभ हो।

† स्वाहा के पीछे "इदं न मम" तक त्याग कहलाता है, जहां यह त्याग पढ़ा हो वहां स्वाहा पर आहुति नहीं देनी चाहिए, किन्तु त्याग की समाप्ति पर देनी चाहिए।

वेदसे स्वाहा । इदमग्नये जातवेदसे, इदं न मम ॥

अर्थ—समिधा से अग्नि का सेवन करो घी से अतिथि * को प्रज्वलित करो, और इसमें हव्य (होम के योग्य नाना विधि पदार्थों) को होमो ॥

अच्छी तरह प्रज्वलित हुए प्रकाशमान जातवेदस् अग्नि के लिये तीव्र +घृत होमो ॥

(१३) अगले मन्त्र से तीसरी समिधा डाले ।

ओं तंत्वा समिद्भिरंगिरो घृतेन वर्धयामसि । बृहच्छोचा यविष्ठय स्वाहा । इदमग्नयेऽङ्गिरसे इदं न मम ॥

अर्थ—उस तुझको हे आङ्गिरः ! हम समिधाओं से

---

* अग्नि को अतिथि कहने से अतिथिवत् आदरणीय बतलाया है ।

+ इस से यह विधि निकलती है, कि प्रज्वलित अग्नि में ही आहुतियां डालनी चाहियें, बुझी हुई में नहीं, और तीव्र घृत अर्थात् शुद्ध पवित्र और पिघला हुआ घृत ही डालना चाहिये ।

और घी से बढ़ाते हैं, हे युवतम तू ज़ोर से चमक * ॥

१४-फिर पांच आहुतियां आज्यकी इस पूर्वोक्त मन्त्र से देवे ॥

ओं अयं त इध्म आत्मा जातवेदस्तेनेध्यस्व वर्धस्व चेद्ध वर्धय चास्मान् प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन समेधय स्वाहा इदमग्नये जातवेदसे, इदं न मम ।

१५-इसके पीछे इन मन्त्रों से कुण्ड के चारों ओर जल छिड़के :-

ओ३म् अदितेऽनुमन्यस्व (इस से दक्षिण में)

अर्थ-हे अदिति (दृश्य की अधिष्ठात्री शक्ति) स्वीकार कर ॥

ओ३म्-अनुमतेऽनुमन्यस्व (इससे पश्चिम में)

अर्थ-हे अनुमति (पूर्णमासीकी अधिष्ठात्री शक्ति) स्वीकार कर ॥

---

* अङ्गिरः = गतिवाला, वा अङ्गों का सार । अग्नि से ही गति होती है, और अङ्गों में जीवन उसी से है। युवतम = सब से बढ़कर जवान । उमङ्गों से भरे हुए युवतम की तरह कार्य्य करने में समर्थ ।

ओ३म्—सरस्वत्यनुमन्यस्व (इससे उत्तर में)*

अर्थ—हे सरस्वति (विद्या की अधिष्ठात्री शक्ति) स्वीकार कर ॥

इस प्रकार तीन ओर जल छिड़क कर फिर इस अगले मंत्र से पूर्व से लेकर चारों ओर जल छिड़कें ॥

ओं देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय। दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु ॥

(यजु० ११।७)

अर्थ—हे प्रेरकदेव ऐश्वर्य के लिये यज्ञ को प्रेरो, और यज्ञपति (यजमान) को प्रेरो। ज्ञान का पवित्र करनेवाला दिव्य गन्धर्व (वेद का धारनेवाला परमात्मा) हमारे ज्ञान को पवित्र करे, वाणी का स्वामी हमारी वाणी को रसीली बनाए ॥

---

* यह जल छिड़कने की विधि गोभिल गृह्यसूत्र १।३।१-५ में और हिरण्य केशि गृह्यसूत्र १।२।८-१० में खादिर गृह्य सूत्र १।२।१७-२० में लिखी है।

आघाराहुतियें।

*१३-इसके पीछे आज्य की दो आघाराहुतियें देवे॥

ओ३म् अग्नये स्वाहा इदमग्नये इदं न मम॥

तदनुसार "अदितेऽनुमन्यस्व" इससे दक्षिण "अनुमतेऽनुमन्यस्व" इस से उत्तर में जल छिड़कना चाहिए। दैवकर्म्म पश्चिम से पूर्व को और दक्षिण से उत्तर को होते हैं, जैसा कि ब्राह्मण में कहा है:-

प्राञ्च्युपांश्च वा कर्माण्यनुतिष्ठेरन्।

कर्मों को वह पूर्व वा उत्तर की ओर अनुष्ठान करें। इस में दक्षिण और उत्तर में पश्चिम से पूर्व की ओर और पश्चिम में दक्षिण से उत्तर की ओर छिड़के, और "देव सवितः" इस से प्रदक्षिण क्रम से चारों ओर जल अञ्जलि से छिड़के॥

संस्कारविधि में "अदितेऽनुमन्यस्व" से पूर्व में जल छिड़कना लिखा है। सूत्रों के असम्मत होने से यह लेखक प्रमाद ही प्रतीत होता है। दक्षिण, पश्चिम और उत्तर में क्रम भी ठीक रहता है॥

* आघाराहुति=स्रुवे के साथ पश्चिम से पूर्व को सीधी घी की धारा बहाता जाए।

अर्थ—इससे उत्तर भाग में आघाराहुति देवे ॥

ओ३म्—सोमाय स्वाहा, इदं सोमाय, इदं न मम ॥

इस से दक्षिण भाग में आघाराहुति देवे ॥

आज्य भागाहुतियें ।

१७—फिर निचले दो मन्त्रों से वेदी के मध्य में दो आज्यभागाहुतियें देवे :—

ओम्—प्रजापतये* स्वाहा. इदं प्रजापतये इदं न मम ॥

ओम्—इन्द्राय स्वाहा, इदमिन्द्राय इदं न मम ॥ †

---

* प्रजापति की आहुति में सर्वत्र "प्रजापतये" मन में कहकर 'स्वाहा' वा 'इदं न मम' वाणी से बोलें ॥

† अग्नि, सोम, प्रजापति और इन्द्र, विशिष्ट रूप में परमात्मा के नाम हैं। अर्थात् अग्नि का अन्तर्यामी अधिष्ठाता, चन्द्र का अधिष्ठाता, सारे जगत् का अधिष्ठाता और बिजली का अधिष्ठाता। अग्नि का सम्बन्ध उत्तर मार्ग (शुक्ल मार्ग) से और चन्द्र का दक्षिण मार्ग (कृष्ण मार्ग) से है ॥

व्याहृत्याहुतियें।

१८—फिर यह चार व्याहृत्याहुतियें आज्य की देवें॥

ओम्, भूरग्नये स्वाहा, इदमग्नये, इदं न मम

ओं भुवर्वायवे स्वाहा, इदं वायवे, इदं न मम

ओम्, स्वरादित्याय स्वाहा, इदमादित्याय, इदं न मम।

ओम्, भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः स्वाहा, इदमग्निवाय्वादित्येभ्यः इदं न मम*

स्विष्ट कृदाहुति†

१९—इसके पीछे एक स्विष्टकृदाहुति आज्य की वा भात की देवें, इस मन्त्र से—

---

* भूर्भुवः स्वः = पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक के नाम हैं, अग्नि वायु और सूर्य इन के देवता हैं, हवन इन सबको लाभ का हेतु है।

† स्विष्टकृत् अग्नि का विशेषण होता है अर्थ यजन को अच्छा बनाने वाला अर्थात् सब प्रकार की त्रुटियों को मिटा कर यज्ञ को पूर्ण शोभामान् बनाने वाला।

ओ३म् यदस्य कर्मणो ऽत्यरीरिचं यद्वा न्यून मिहाकरम् । अग्निष्टत् स्विष्ट कृद्द्विद्वान् त्सर्वं स्विष्टं सुहुतं करोतु मे । अग्नये स्विष्टकृते सुहुत हुते सर्व प्रायश्चित्ताहुतीनां कामानां समर्धयित्रे सर्वान् नः कामान् समर्धय* स्वाहा । इद मग्नये स्विष्टकृते, इदं न मम ॥

अर्थ—जो इस कर्म में मैंने अत्यधिक किया है, वा जो न्यून किया है, उस सारे को स्विष्टकृत अग्नि जानता है, वह मेरे लिये उसको अच्छा यजन किया हुआ और अच्छा होमाहुआ बना देवे । यह उस अग्नि के लिये है, जो यजन को अच्छा (त्रुटि रहित और पूर्ण शक्ति) बनाने वाला है, हवन को अच्छा बनाने वाला है, सारी प्रायश्चित्ताहुतियों की कामनाओं का

---

* इस मंत्र का 'यत्कर्मणोऽत्यरीरिचम्' इतनी प्रतीक शतपथ १४, ८, ४, २४ में है, और आश्वलायन गृह्य १।१०।२३ में पूरा मंत्र है, उसी के अनुसार 'विद्यात्' के स्थान 'विद्वान्' पाठ कर दिया है, इसमें अर्थ गौरव भी है ॥

समृद्ध (अधिक फलदायक) बनानेवाला है। (हे देव) हमारी सारी कामनाओं को समृद्ध करो। स्वाहा :-

प्राजापत्याहुति। *

२०—इनके पीछे एक प्राजापत्याहुति अज्य की देवें :-

ओम्—प्रजापतये स्वाहा इदं प्रजापतये, इदं न मम॥

पवमानप्राजापत्याहुतियें !

२१—फिर चार आज्याहुतियें निचले चार मन्त्रों से देवें, इनमें से पहले तीन मन्त्र पवमान अग्नि के विषय में हैं, चौथा प्रजापति के विषय में। इसलिये पहली पावमानी और चौथी प्राजापत्याहुति है :-

१—ओं भूर्भुवःस्वः *। अग्न आयूंषि

---

* ओ३म् भूर्भुवः स्वः, मन्त्र का भाग नहीं, मन्त्र के आदि में जोड़े गए हैं—अर्थ—ओ३म् से स्थूल जगत्, सूक्ष्म जगत् और प्रकृति का अधिष्ठाता, और भूर्भुवः स्वः से पृथिवी अन्तरिक्ष और द्यौ का अधिष्ठाता परमेश्वर अभिप्रेत है॥

पवस आसुवोर्ज्जमिषं चनः । आरे वा धस्व दुच्छुनां स्वाहा । इदमग्नये पवनाय † इदं न मम ॥ (ऋग्० ९ । ६६ । १९)

अर्थ—हे अग्नि ! तुम हमारी अवस्थाओं को पवित्र करने हो, अन्न और पराक्रम हमारी ओर प्रेरो, और विपत्तियों को हमसे परे हटाओ ॥

२—ओं भूर्भुवः स्वः । अग्निर्ऋषिः पवमानः पाञ्चजन्यः पुरोहितः । तमीमहे महागयं स्वाहा । इदमग्नये पवमानाय, इदं न मम

(ऋग्० ९ । ६६ । २०)

अर्थ—अग्नि जो पवमान (पवित्र करने वाला) ऋषि है, सब मनुष्यों का हितैषी पुरोहित है, उस महाधनी से हम याचना करते हैं, स्वाहा ॥

३—ओं भूर्भुवः स्वः । अग्ने पवस्व स्वपा अस्मे वर्चः सुवीर्यम् । दधद्रयिं मयि पोषं

---

† यह तीनों ऋचाएं पावमानी कहलाती हैं, इनका देवता पवमान अग्नि अर्थात् पवित्र करनेवाला अग्नि है ।

स्वाहा, इदमग्नये पवमानाय इदं न मम ॥

(ऋग्० ९ । ६६ । २१)

अर्थ—हे अग्नि ! तुम जो अपनों के रक्षक हो हमारे ब्रह्मवर्चस और बड़ी वीरता को पवित्र करो, मुझमें धन और पुष्टि दो ॥

४—ओं भूर्भुवः स्वः [प्रजापते नत्वदे-तान्यन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव । यत्कामास्ते जुहुम स्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्/स्वाहा] इदं प्रजापतये, इदं न मम ॥ [(ऋग्० १० । १२१ । १०)]

अर्थ—हे प्रजा के स्वामी ! तुम्हारे बिना और कोई इन सब पदार्थों पर शासन नहीं कर रहा है सो हम जिस कामना से आपको पुकारते हैं, हमारी वह पूर्ण हो, हम धनों के मालिक हों ॥

सर्व प्रायश्चित्त होम ।

२२—फिर निचले आठ मन्त्रों से आठ आज्या-

हुतियें देवें. इन मन्त्रों से किया होम सर्वप्रायश्चित्त होम कहलाता है. अर्थात जो भूल चूक हुई है उसका यह प्रायश्चित्त है ॥

(१) ओं त्वन्नो अग्ने वरुणस्य विद्वान् देवस्य हेडो अवयासिसीष्ठाः। याजिष्ठो वन्हितमः शोशुचानो विश्वा द्वेषा ऽ सि प्रमुमुग्ध्यस्मत् स्वाहा। इदमग्नी वरुणाभ्यां, इदं न मम ॥ (यजु० २१ । ३, ऋग्० ४।१।४)

अर्थ–तुम हे अग्नि ! वरुण के जाननेवाले हो, उस देवता के क्रोध को हमसे परे हटाओ । और (हमारे लिये) सब से श्रेष्ठ यजमान बनकर (हमारी हवियों को सब मे श्रेष्ठ पहुंचाने वाले बनकर) बहुत बड़े चमकते हुए तुम हमसे सारे द्वेषों को (हमारे अन्दर जो दूसरों के लिये हैं, और दूसरों के अन्दर जो हमारे लिये हैं) दूर कर दो ॥

(२) ओं स त्वं नो अग्ने ऽवमो भवोती ने

दिष्ठो अस्या उषसो व्युष्टौ, अवयक्ष्व नो वरुणं ँ रराणो वीहि मृडीकं ँ सुहवा न एधि स्वाहा। इदमग्नी वरुणाभ्यां, इदं न मम॥ (यजु० २१। ४. ऋग्० ४। १। ५)

अर्थ—हे अग्ने! इस (नई) उषा के फूटने पर अपनी सहायता द्वारा हमारे रक्षक बनो, हमारे अन्तरङ्ग साथी बनो, और (हवि) देते हुए हमारे लिये वरुण को पूजो, कल्याण लानेवाली हवि को पहुंचाओ, और हमारे लिये आसानी से बुलाने योग्य बनो॥

(३) ओं इमं मे वरुण श्रुधी हवमद्या च मृडय। त्वामवस्यु राचके स्वाहा। इदं वरुणाय, इदं न मम॥ (यजु० २१। १., ऋग्० १। २५। १९)

अर्थ—हे वरुण मेरी इस टेर को सुनो आज मुझ पर कृपा करो, तेरी सहायता चाहते हुए मैंने तुझे पुकारा है॥

(४) ओं तत्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमान-स्तदाशास्ते यजमानो हविर्भिः । अहेड मानो वरुणेह बोध्युरुशंस मान आयुः प्र-मोषीः स्वाहा । इदं वरुणाय इदं न मम ॥

(यजु० २१ । २, १८ । ४९., ऋग्० १ । २४ । ११)

अर्थ—मैं तुम्हें वन्दना करता हुआ मन्त्र द्वारा तुम से यह मांगता हूं, और यजमान हवियों के द्वारा यह मांगता है, कि हे वरुण क्रोध न करते हुए तुम (हमारी कामनाओं को) जानो, हे फैली हुई प्रशंसावाले ! हमारी आयु को मत चुराओ ॥

(५) ओं येते शतं वरुण ये सहस्रं यज्ञियाः पाशा वितता महान्तः । तेभिर्नो अद्य सवि-तोत विष्णु र्विश्वे मुञ्चन्तु मरुतः स्वर्काः स्वाहा। इदं वरुणाय, सवित्रे, विष्णवे, विश्वेभ्यो देवेभ्यो मरुद्भ्यः स्वर्केभ्यः, इदं न मम ॥

(कात्यायन २१ । ८)

अर्थ—हे वरुण! जो तुम्हारी यज्ञ सम्बन्धी (यज्ञ में विघ्न वा त्रुटियें करनेवालों के लिये) सौ हज़ार (अर्थात् अनगिनत) बड़ी २ फांसें फैली हुई हैं, उन से आज हमें सविता, विष्णु, विश्वदेव और शोभन गीतों वाले मरुत् छुड़ाएं ॥

(६) ओं अयाश्चाग्ने ऽस्यनभिशस्तिपाश्च सत्यमित्त्वमया असि। अया नो यज्ञं वहास्यया नो धेहि भेषजं स्वाहा। इदमग्नये अयसे, इदं न मम ॥ (कात्या० २५। ११)

अर्थ—हे अग्ने! तुम तीक्ष्ण (तेज़) हो और निर्दोषों के रक्षक हो। सचमुच ही तुम तीक्ष्ण हो, तीक्ष्ण हुए तुम हमारे यज्ञ को (देवताओं में) ले जाते हो, तीक्ष्ण हुए तुम हमारे यज्ञ को औषध बनाओ ॥

(७) ओं उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं विमध्यमं श्रथाय। अथा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम स्वाहा। इदं वरु-

स्याम ऽ दितये स्याम ऽ दितये च —

पाशं, इदं न मम ॥ (यजु० १२।१२, ऋग्वेद० १।२४।१५)
इदं न मम

अर्थ—हे वरुण ! ऊपर की फांस को हमसे ऊपर उठा दो, निचली को नीचे उतार दो, और मध्यम को खोलदो, तब हम हे आदित्य (अदिति के पुत्र) तुम्हारे व्रत (नियम) में निरपराध होकर अदिति के लिये हों ॥ *

(८) ओं भवतंनः स मनसौ सचेतसावरेपसौ । मा यज्ञ ँ हि ँ सिष्ठं मा यः

* वरुण पवित्रता का अधिष्ठाता है, जो पवित्रता के नियमो को तोडता है, उसके शरीर को वरुण की फांसें ऊपर नीचे और मध्य में जकड लेती हैं, सो वह पशु जकडे हुए कैदी की तरह अदिति की शोभा को नहीं भोग सकता। इसलिये यह प्रार्थना है, कि हे वरुण उन सारी फांसों से निर्मुक्त करके तुम्हारे नियमो पर चलने का हमें सामर्थ्य दो जिससे हम निरपराध होकर अदिति (सारे देवताओ की माता Nature) की शोभा को स्वतन्त्रता से उपभोग करें ॥

जातवेदसौ शिवौ भवतमद्यनः स्वाहा।
इदं जातवेदोभ्यां, इदं न मम ॥ (यजु ५ । ३)

अर्थ—हमारे लिये तुम दोनों एक मनवाले, एक चिन्तनवाले और निर्दोष होजाओ, न यज्ञ को हानि पहुंचाओ, न यज्ञपति (यजमान) को हानि पहुंचाओ हे जातवेदसो हमारे लिये कल्याणरूप होजाओ ॥

पूर्णाहुति ।

२३—फिर निचले मन्त्र से तीन पूर्णाहुतियें आज्य और दूसरी सामग्री की देवें :—

ओं सर्वं वै पूर्णं ॐ स्वाहा ॥

वामदेव्यगान ।

२४—सारे मङ्गलकार्यों में हवन के अनन्तर वामदेव्य गान करें ॥

वामदेव्य गान ।

ओं भूर्भुवः स्वः । कया नश्चित्र आभुवदूती सदावृधा सखाः । कया शचिष्ठया वृता ॥ १ ॥

ओं भूर्भुवः स्वः । कस्त्वा सत्योमदा-
नां म ꣳ हिष्ठो मत्सदन्धसः । दृढा चिदा-
रुजे वसु ॥ २ ॥

महावामदेव्यम् ।

ओं भूर्भुवः स्वः । अभीषुणः सखीना-
मविता जरितॄणाम् । शतम्भवास्यूतये॥३॥

का ऽ ५ या नश्चा ३ इत्रा ३ आभुवात् ।
ऊ । ती सदावृधः सखा औ ३ होहाइ कया
२३ शचाई । ष्ठयौहो ३ हुम्मा २ । वा २ र्तो ३
ऽ ५ हाई ॥ (१) ॥ का ऽ ५ स्त्वा । मत्यो ३
मा दानाम् । मा । हिष्ठोमात्सादन्ध । सा ओं३
होहाइ । दृढा २३ चिदा । रुजौहो ३ हुम्मा २
वा ऽ ३ सो ३ ऽ ५ हायि (२) ॥ आ ऽ ५ भी ।
षुणा ३ सा ३ खीनाम् । आविता जरायितृ ।
णाम् । औ २३ होहायि । शता २३ । म्भवा ।
सियौहो ३ । हुम्मा २ । ता ऽ २ यो ३ ऽ ५ हायि

॥(३) साम० उत्तरार्चिके। अध्याये १। खं० ३। मं० १।२।३॥

संस्कारों की संख्या।

श्रीस्वामीजी महाराजने संस्कार सोलह इस क्रम से माने हैं :—

(१) गर्भाधान, (२) पुंसवन (३) सीमन्तोन्नयन (४) जातकर्म (५) नामकरण (६) निष्क्रमण (७) अन्न प्राशन (८) चूड़ाकर्म (९) कर्ण वेध (१०) उपनयन (११) वेदारम्भ (१२) समावर्तन (१३) विवाह (१४) गृहाश्रम (१५) वानप्रस्थ (१६) संन्यास॥

अन्त्येष्टि कर्म इन सोलह से अलग है, वह संस्कार नहीं, अपितु विकार है। संस्कार विधि में उसको इस लिये स्थान दिया है, कि उसकी भी विधि संस्कारों की तरह मन्त्रों से कीजाती है। इसीकारण इसे उपचार से संस्कार भी बोलते हैं, वस्तुतः यह संस्कार नहीं, और न किसी आचार्य ने इसे संस्कार माना है। श्री स्वामी जी महाराज को भी यही अभिप्रेत है। अतएव उन्होंने

आरम्भ में सोलह संस्कार कहे हैं। अब यदि अन्त्येष्टि को भी संस्कारों में गिनें, तो सत्तरह होजाते हैं॥

प्रश्न—यदि गृहाश्रम को एक अलग संस्कार न मानकर अन्त्येष्टि को संस्कार माना जाए, तो सोलह की संख्या ठीक बनी रहती है। और यह उचित इस लिये है कि :—

१.—गृहाश्रम वस्तुतः विवाह से अलग कोई संस्कार नहीं, और अन्त्येष्टि एक स्वतन्त्र संस्कार है॥

२—और कि श्री स्वामीजी महाराज ने कई स्थलों में गर्भाधान से लेकर मृत्यु पर्यन्त, वा दाह पर्यन्त "सोलह संस्कार" ऐसा लिखा है। यह तभी ठीक हो सक्ता है, जब अन्त्येष्टि को संस्कार मानाजाए॥

३—अन्त्येष्टि प्रकरण में भी अन्त्येष्टि कर्म के लिए संस्कार शब्द प्रयुक्त किया है॥

(उत्तर) १.—गृहाश्रम को विवाह से अलग संस्कार मानना ही उचित है, क्योंकि गौतम धर्म सूत्रों में विवाह से आगे पांच महायज्ञ, सात पाकयज्ञ, सात हविर्यज्ञ, और सात सोमयज्ञ यह २६ भी संस्कार माने हैं *इनमें

---

*नोट—देखो गौतम धर्मसूत्र १। ८। १७–२१॥

संस्कार का लक्षण (शोधन और आधान) घटता है। इसलिए इनको संस्कार मानना उचित है। किन्तु यह सब कर्म गृहाश्रम में किये जाते हैं,इसलिये श्रीस्वामीजी महाराज ने इन सब के लिए एक नाम गृहाश्रम संस्कार रख दिया है, इसका अर्थ गृहाश्रम के संस्कार, अर्थात् पञ्च महायज्ञादि है, अतएव इस प्रकरण में पञ्च महायज्ञों और दर्श पूर्णमासेष्टियों और शालाकर्म का विधान किया है॥

२—मृत्यु पर्यन्त इत्यादि में पर्यन्त शब्द सीमा का बोधक है। अर्थात् संस्कार इसमें परे हैं अथवा प्रायवृद्धि का अनुसरण करके ऐसा लिखा गया है वा लेखक प्रमाद है॥

३—अन्त्येष्टि प्रकरण में अन्त्येष्टि के लिये संस्कार शब्द का प्रयोग उपचार से है। पर गृहाश्रम वा अन्त्येष्टि में से श्रीस्वामी जी को संस्कार कौन अभिमत है, इसका उत्तर इससे स्पष्ट मिलजाता है, कि गृहाश्रमके शीर्षक में उन्होंने "अथ गृहाश्रम संस्कार विधिं वक्ष्यामः" लिखा है, पर अन्त्येष्टि के शीर्षक में "अन्त्येष्टि कर्म विधिं वक्ष्यामः" लिखा है॥

इसलिये गृहाश्रम ही संस्कारों में है, अन्त्येष्टि को उपचार से संस्कार कहा है॥

मनुष्य का पहिला संस्कार।

१.—हिरण्यकेशी ने संस्कारों में सब से पहला स्थान उपनयन को दिया है, पर अन्य सारे गृह्यसूत्रकारों ने पहला स्थान विवाह को दिया है। श्री स्वामीजी महाराज ने संस्कारविधि में सब से पहले गर्भाधान संस्कार लिखा है॥

२—आर्यों में तीन संस्कार बड़े समारोह के हैं, उपनयन, समावर्तन, और विवाह॥

३—उपनयन एक आर्यकुमार को वेद और दूसरी विद्याएं पढ़ने के लिये आचार्यकुल में भेजते समय होता है। यह एक उसका दूसरा जन्म माना जाता है, जो कि सभ्यता और कर्तव्य का जन्म कहलाता है। इससे पहले बच्चा अपने संस्कार आप नहीं करता, अपितु माता पिता उसके संस्कार करते हैं, उपनयन से वह आप अपने संस्कार आरम्भ करता है, इस हेतु से इसे पहला स्थान दिया है। किञ्च-उपनयन सब के लिये नियत है, विवाह मनुष्य की इच्छा पर है न करे तो कोई बाधा नहीं। पर उपनयन प्रत्येक के लिये अवश्य

कर्तव्य है। इस हेतु से भी हिरण्यकेशी ने उपनयन को प्रधानता दी है॥

दूसरे आचार्य विवाह को इसलिये प्रधानता देते हैं, कि उपनयन भी बहुत कुछ माता पिता के अधीन होता है, उपनीत होकर भी वह आचार्य के अधीन रहते हैं। यद्यपि शास्त्रीय जीवन को धारण कराना गुरु का काम होता है। सो वस्तुतः वह अभी तक पूरे स्वतन्त्र नहीं हुए होते। विवाह से आरम्भ करके अपने और अपनी संतान के सारे संस्कार उनके अपने अधीन होजाते हैं। अर्थात विवाह से पूर्व उनके संस्कारों की ज़िम्मावारी दूसरों पर होती है, विवाह से लेकर सारी ज़िम्मावारी उनके अपने ऊपर आजाती है, वह अपने और अपनी संतान के आचार व्यवहार की ज़िम्मावारी उठा लेते हैं॥

किञ्च यदि विवाह सब प्रकार शास्त्र मर्यादा के अनुसार होगा, और विवाहित स्त्री पुरुष शास्त्रीय जीवन को धारण करेंगे, तो उनकी संतति स्वभावतः ही शुभ संस्कारों वाली होगी, और उन पर किये संस्कार पूरा फल देंगे। इसलिये गृह्यसूत्र-

कारों ने संस्कारों में विवाह को प्रधानता दी है, और गर्भाधान को विवाह का शेष (अङ्ग) माना है। प्रथम गर्भाधान विवाह से पीछे एक वर्ष वा बारह रात्रि वा छः रात्रि वा अन्ततः तीन रात्रि ही ब्रह्मचारी रहकर चौथी रात्रि को होना चाहिये, इसीलिये इसका नाम चतुर्थी कर्म रक्खा गया है॥

पर श्री स्वामी जी महाराज ने प्रथम स्थान गर्भाधान को दिया है। आशय यह है, कि चाहे यह संस्कार माता पिता के अधीन है, और चाहे यह विवाह का अङ्ग है, पर संस्कार सब से पहला यही है, क्योंकि जीवन का आरम्भ इसी से होता है। और यद्यपि प्रथम गर्भाधान विवाह का शेष है, पर प्रत्येक गर्भाधान शेष नहीं होसकता, वह एक दूसरे संस्कारों की तरह अपने समय पर स्वतंत्र संस्कार होता है, इसलिये विवाह से अलग करके इसको संस्कारों में प्रथम स्थान देना उचित है। अतएव भगवान् मनु ने भी कहा है:—

निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधि:— (मनु० २। १६)

जिसके लिये विधि (कर्मों का अनुष्ठान) गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि पर्यन्त मन्त्रों से बतलाया है ॥ इसीलिये स्मृतियों में भी गर्भाधान को पहले कहा है, और पद्धतिकारोंने भी गर्भाधानको ही पहले लिखा है ॥



पढ़ने योग्य पुस्तकें ।

	Rs.	a.	p.
(१) Conception of God—Head in the Vedas (English)	0	6	0
(२) यज्ञोपवीत उर्दू			–)॥
(३) तोफ़ा शिवरात्रि उर्दू			)॥
(४) संध्या उर्दू			≡)
(५) Swamiji on Vedas (English)	0	1	0

(6) Arya Samaj its beliefs and principles two Rupees per hundred for free distribution. Single copy two pice.

मिलने का पता—

मंत्री यंगमैन्ज़ आर्य्य समाज

ट्रैक्ट सोसायटी, लाहौर ॥

यंगमैन्ज़ आर्य्य समाज ट्रैक्ट सोसायटी लाहौर।

हिन्दी, उर्दू, गुरुमुखी, अंग्रेज़ी आदि में वैदिक धर्म, यज्ञ, संस्कार, स्त्री शिक्षा, विधवा विवाह, स्वास्थ्य रक्षा, जातीय त्योहार और अन्य उपयोगी विषय सम्बन्धी पुस्तकें छापती है—

सोसाइटी के सभासद दो प्रकार के हैं—

प्रथम—जीवन पर्यन्त सभासदों को एक बार ही २५) रु० देने पड़ते हैं॥

द्वितीय—साधारण सभासद वार्षिक चन्दा १) रुपया।

सभासदों को सोसायटी की छपी हुई सब पुस्तकें बिना डाक व्यय और मूल्य के दी जाती हैं॥

सभा और समाजों के लिए विशेष नियम हैं॥

मन्त्री,

यंगमैन्ज़ आर्य्य समाज

ट्रैक्ट सोसायटी, लाहौर॥

7 BOOKS WORTH READING.

	Actual price. Rs. a. p.			Reduced price. Rs. a. p.		
1. Light of truth (English translation by M. Durga Pershad) C. B. ...	2	4	0	2	0	0
2. Life and teachings of Swami Dayanand Sarswati C. B.	2	0	0	1	8	0
3. The message of Vedas C. B.	1	4	0	1	2	0
4. Fountain—Head of Religion C. B.	1	0	0	0	15	0
5. The Ten Gurus and their teachings C. B. ...	0	13	0	0	12	0
6. The teachings of the Arya Samaj C. B. ...	0	12	0	0	10	0
7. Five great duties of Aryas C. B.	0	4	0	0	3	0

Complete Price List of English and Hindi books can be had, on application from—

LIBRARIAN,

Arya Samaj, Anarkali, Lahore.

ओ ३ म्

आर्य्यसमाजकी स्थिति

लेखक तथा प्रकाशक—

ज्ञानचन्द—

सभासद आर्य्यसमाज देहली।

स्टार प्रेस देहली में
मा० लक्ष्मण प्रिंटर के प्रबन्ध से
मुद्रित :

२००० प्रति मू० |-)

✤ ओ३म् ✤

वैदिक शिक्षा

"हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

य० अ० १३ मं० ४ ॥

अर्थ—चराचर सृष्टि को उत्पन्न करने वाला, हम सब का पिता, सब का मालिक, सबका आधार, एक प्रकाशस्वरूप अनादि परमात्मा ही है (हम सब उसके पुत्र आपस में भाई हैं) सब को उसी सुख स्वरूप परमात्मा की भक्ति करनी चाहिये ॥

विजानीह्यार्यान्ये च दस्यवो० ॥

ऋ० मं० १ सू० ५१ मं० ८

अर्थ—मनुष्य जाति के (भलाई और बुराई के कारण] आर्य्य (भले) और दस्यु (बुरे) दो ही भेद हैं।

(अन्य सब पारस्परिक घृणा के पैदा करने वाले वंशीय तथा अनुचित देश सीमित जातीयभेद काल्पनिक हैं ।)

यथेमां वाचं कल्याणी मावदानि जनेभ्यः। ब्रह्म राजन्याभ्याꣳ शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय। य० अ० २६ मं० २

अर्थ -सृष्टिके आरम्भ काल में अनादि पिता परमात्मा की दी हुई ईश्वरीय ज्ञान वेद सब के कल्याण (अभ्युदय निःश्रेयस्) केदेने वाली पैतृक सम्पत्ति है। (इसलिये उस पर मनुष्य मात्र का समान स्वत्व है।)

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघन्या ॥ अ० कां० ३। अ० ६। सू० ३१ मं० १॥

अर्थ—हे मनुष्यो मैं तुम सब को समान हृदय (अपने समान ही दूसरों के लिये दुख निवृत्ति और सुख प्राप्ति का व्यवहार करने वाले) समान मन (अपने समान ही दूसरों के लिये मनन करने वाले) और सबसे द्वेष रहित (होने की आज्ञा) करता हूं। तुम सब एक दूसरे से इस प्रकार प्रेम पूर्वक बरतो कि जिस प्रकार गाय अपने नवजात बछड़े से।

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वियौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः। अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि ॥ अ० कां ३। अ० ६। सू० ३१ मं० ५॥

अर्थ—हे मनुष्यो तुम सब प्रकार की विद्या से युक्त पूर्ण विद्वान् होकर परस्पर मिलकर राजादि सम्पत्ति को प्राप्त ने हुये विरोध को त्याग कर एक दूसरे के लिये सच्चा और मीठा बोलते हुये एक दूसरे को प्राप्त (अपने अनुकूल) करो। मैं तुमको समान लाभालाभ के लिए एक दूसरे का सहायक और एक विचार तथा आचार (धर्म) वाले (होने आज्ञा) करता हूँ।

अनुव्रतः पितुपुत्रो मात्राभवतु संमनाः
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शांतिवान्॥
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसार मुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥

अ० कां० ३ अ० ६ सू० ३१ मं० २। ३॥

अर्थ—हे गृहस्थो तुम में पुत्र और माता पिता धर्मयुक्त प्रेम से एक दूसरे के अनुकूल आचरण करने वाले हों और पति पत्नी परस्पर शान्ति के देने वाला मधुर भाषण करें।

भाई और बहनें आपस में कभी द्वेष न करें। परन्तु परस्पर प्रेम से समान व्रत (पर उपकार का) धारण करके वाणी आदि इन्द्रियों से एक दूसरे के लिये कल्याणकारी बनें॥३॥

पूर्वोक्त मन्त्रों का यह आशय है कि मनुष्यमात्र का एक ही धर्म है उनमें धार्मिक भेद सम्भव ही नहीं। जहां भेद और विरोध है वहां धर्म नहीं अतः मतमतान्तरादि भेद कल्पित हैं।

ओ३म्

तेजोऽसि तेजोमयि धेहि, वीर्यमसि वीर्यं मयिधेहि। बलमसि बलं मयि धेहि, ओजो स्योजो मयि धेहि। मन्युरसि मन्युं मयि धेहि, सहोसि सहो मयि धेहि॥

प्रिय आर्यन्वृन्द! इस राष्ट्रीय हलचल के समय में आर्य्य समाज के सामने भी यह प्रश्न उपस्थित हो गया है कि आर्य्य समाज की स्थिति क्या है? वह केवल धार्मिक समाज है अथवा उसका सम्बन्ध राजनीति से भी है? इत्यादि—

आश्चर्य का विषय है कि आर्यसमाज जैसे मननशील समाज में "अपनी स्थिति" ही विचारणीय हो फिर उस अवस्था में जबकि उसके नियमों उपनियमों के साफ और खुले शब्दों में उसका उद्देश्य, उद्देश्य का साधन, और स्वरूप, निश्चित रूप से बतलाया गया हो।

आर्यसमाज के विपक्षी तो पहिले ही जान बूझ कर उस को हानि पहुचाने के लिये उसके विशाल और विस्तृत विशुद्ध धार्मिक स्वरूप के विरुद्ध उसे केवल संकुचित आधुनिक पोलीटिकल बाडी बतला उसको धर्म के उच्चासन से गिराकर कलङ्कित करने का यत्न करते रहे हैं, किन्तु अभाग्यवश अपने

पने स्वरूप को भूले हुए अज्ञानी की तरह कई आर्य्यसामा-जिक भाई भी अज्ञानता से अथवा संसार भर के शुभ चिन्तक और हित साधक आर्यसमाज के मङ्गलमय क्रियात्मक स्वरूप को भयङ्कर समझने वाले क्षुद्राशय राजकर्मचारियों के गुप्त तथा प्रकट विरोधसे भयभीत हो अपनी प्यारी संस्थाको उनके र्द्वेषाऽग्नि दाहसे सुरक्षित रखने के लिये उसके वास्तविक स्वरूपसे विरुद्ध उसको अन्य मतमतान्तरों जैसी एकदेशी धार्मिक सभा कहकर उसके गौरवको घटारहे हैं इतनाही नहीं, किन्तु कई मननशील आर्य्य सज्जन भी उपर्युक्त समस्या का निर्णय वेदा-नुकूल ऋषि निर्मित नियमों उपनियमों और ग्रन्थोंके आधारके बिना केवल अपने मनोकल्पित भावों के ही अनुसार करते हुये आर्यसमाज के सार्वभौमिक स्वरूप को केवल ब्राह्मणों और सन्यासियों की ही अथवा उपदेशक सभा बतलाकर उस के महत्व को मिटा रहे हैं। अतएव आवो हम आर्य्यसमाज के प्रवर्त्तक अपने पूज्य आचार्य, ऋषि दयानन्द के चरणों में बैठकर इस समस्या को हल करने का यत्न करें जिससे किसी प्रकार की भ्रान्ति की सम्भावना ही न रहे।

पूर्व इसके कि इस विषय पर विशेष विचार किया जावे, यह जानना आवश्यक है कि आर्यसमाज की स्थापना से प-हिले कौन से ऐसे कारण थे कि जिन से प्रेरित होकर अथवा किस अभिप्राय से ऋषि दयानन्द को काम करने तथा स-माज संगठन की आवश्यकता हुई क्योंकि प्रत्येक समाज के निर्माण के कुछ न कुछ हेतु अवश्य होते हैं बिना कारण कोई कार्य नहीं होता अतः उचित प्रतीत होता है कि उन कारणों

को आर्यसमाज के प्रवर्त्तक ऋषि के ही शब्दों में पाठकों के आगे रख दिया जावे।

सत्यार्थप्रकाश की भूमिका।

क्योंकि विद्वानों के विरोध से अविद्वानों में विरोध बढ़ कर अनेक विध दुःख की वृद्धि और सुख की हानि ने जोकि स्वार्थी मनुष्यों को प्रिय है सब मनुष्यों को दुःख सागर में डुबा दिया है।

अनुभूमिका सत्यार्थप्रकाश ११ समुल्लास

"वेदों की अप्रवृत्ति होने के कारण महाभारत युद्ध हुआ इनकी अप्रवृत्ति से अविद्या अन्धकार के भूगोल में विस्तृत होने से मनुष्यों की बुद्धि भ्रम युक्त होकर जिसके मन में जैसा आया वैसा मत चलाया।"

"इस मत मतान्तर के विवाद से जगत में जो २ अनिष्ट फल हुए होते और होंगे उनको पक्षपात रहित विद्वज्जन जान सकते हैं, जब तक इस मनुष्य जाति में परस्पर मिथ्या मत मतान्तर का विरोध न छूटेगा तब तक अन्योऽन्य को आनन्द न होगा"

"परमात्मा एक मत में प्रवृत्त होने का उत्साह सब मनुष्यों के आत्माओं में प्रकाशित करें"

सत्यार्थप्रकाश के अन्त में

"और मत मतान्तर के परस्पर झगड़े हैं, मैं उनको पसन्द

नहीं करता क्योंकि इन्हीं मत वालों ने अपने मतों का प्रचार कर मनुष्यों को फंसा के परस्पर शत्रु बना दिया है

इस बात को काट सर्व सत्य का प्रचार कर सबको एक मत में करा द्वेष छुड़ा परस्पर में दृढ़ प्रीति युक्त करा के सब से सब को सुख लाभ पहुंचाने के लिये मेरा प्रयत्न और अभिप्राय है।"

सर्वशक्तिमान परमात्माकी कृपासहाय और आप्त जनोंको सहानुभूतिसे यह सिध्दान्तसर्वत्र भूगोलमें शीघ्रप्रवृत्त होजावें, जिससे सब लोग सहजसे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, की सिद्धि करके सदा उन्नत और आनन्दित होते रहें, यही मेरा मुख्य प्रयोजन है, इत्यादि। (विशेष इसी पुस्तक के सारांश प्रकरण में देखिये)

टिप्पणी में दिये हुए वाक्यों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वेदों की अप्रवृत्ति अथवा सत्य धर्म और एकता के अभाव से संसार को अत्यन्त पीड़ित देखकर ऋषि के करुणामय हृदय में दर्द उठा, जिससे प्रेरित होकर उसने समाधि सुख को छोड़ केवल लोक हित के लिये कार्य आरम्भ किया उसने अनुभव किया कि एक वैदिक सार्वजनिक सत्य धर्म के स्वरूप को न जानने तथा उसकी अप्रवृत्ति से ही संसार दुःखी हो रहा है, और अद्यकालीन धर्माभासी मत पन्थ और मजहब भी एक सार्व भौमि धर्म को छोड़कर उन्नति के स्थान में केवल

अवन्नति के ही कारण नहीं बन रहे हैं किन्तु वे मनुष्य समाज में भेद की दृढ़ चट्टानें हैं, उनकी उपस्थिति में मनुष्य समाज में प्रेम, एकता और शान्ति को स्थान नहीं मिल सकता, क्योंकि विचारों और आचारों का भेदही उनके जीवन का मूल आधार है, और जब तक विचारों तथा आचारों की एकता नहीं होती तब तक ईर्षा, द्वेष, और कलह संसार से कभी मिट नहीं सकते।

चूंकि एक व्यापक क्रियात्मक स्वाभाविक वैदिक सत्य धर्म का स्थान अनेक सामुदायिक संकुचित केवल विश्वासात्मक विरोधात्मक पारस्परिक विरोधी अस्वाभाविक मतों और मज़हबों ने ले लिया था, और संसार ने वास्तविक धर्म को अपने कार व्यवहार में से निकाल कर केवल मन्दिरों, मस्जिदों, और गिरजाओं की चार दीवारी में ही सीमित समझ रक्खा था किन्तु ऋषिवर जीवन उद्देश्य की प्राप्ति के लिये मनुष्य समाज के प्रत्येक व्यवहार विचार और आचारमें धर्म की व्याप्ति आवश्यक समझते थे. अतएव ऋषि ने सुख वृद्धि के हेतु एक सत्य सनातन सांप्रदायिक झगडों तथा जातीय पक्षपातों से रहित सार्वभौमिक वैदिक धर्म को ही एक मात्र साधन जानकर उसी की प्रवृत्ति में संसार का कल्याण समझा, इसी पवित्र कामना की सफलता के लिये जहां आत्मसमर्पण किया वहां काम को स्थिररूप से प्रचलित रखने के अभिप्राय से किसी संगठित शक्ति का होना भी आवश्यक समझा उसी का परिणाम अद्य कालीन आर्य्य समाज है।

"आर्य समाज का मुख्य उद्देश्य,,

आर्य्य समाज की स्थिति जानने के लिये आवश्यक है

कि पहिले उसके उद्देश्य को समझ लिया जावे, क्योंकि उद्देश्य के समझ लेने से उसकी वास्तविक स्थिति जानने में भ्रान्ति न रहेगी ।

कई एक भाई वैदिक धर्म के प्रचार को ही आर्य्य समाज का मुख्य उद्देश्य मान रहे हैं, यह भ्रांति केवल शब्दार्थ का ख़याल न करने, नियमों उपनियमों और ऋषिकृत ग्रन्थों को विचार पूर्वक न पढ़ने, अधुनिक मत मतान्तरों के क्षुद्र संस्कारों, तथा दण्ड भय का फल है ।

वैदिक धर्म का प्रचार मुख्योद्देश्य नहीं हो सकता क्यों कि धर्म साधन है, और उद्देश्य साध्य है, धर्म साधन से ही साध्य उद्येश्य की सिद्धि होती है । तीसरे नियम में वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना आर्य्यों का परमधर्म अर्थात् कर्तव्य बतलाया है न कि मुख्योद्देश्य, इसलिये साधन को साध्य मानना भूल है, क्योंकि साध्य साधन से हमेशा पृथक होता है, आर्य्यसमाज के मुख्योद्देश्य का उसके छटे नियम में स्पष्ट वर्णन किया गया है यथाः—

"संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्योद्देश्य है अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना,,

इस नियममें संसार भरकी शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करनेको ही आर्य्य समाजका मुख्योद्देश्य बतलाया गया है । यद्यपि इस नियमकी उपस्थितिमें मुख्योद्देश्यके विषयमें किसीप्रकारका कोई विवाद नहीं रहता तथाप इसकी विशेष पुष्टिके लिये यदि ऋषि कृत ग्रन्थों का अवलोकनकिया

आवेतो भी पूर्वोक्त परिणामही निकलताहै, जैसा कि वक्तव्य-व्यामन्तव्य के अन्त में ऋषिवर लिखते हैं

> 'जिससे सब लोग सहज से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की सिद्धि करके सदा उन्नत और आनन्दित होते रहें यही मेरा मुख्य प्रयोजन है'

यहां भी सब लोगों अर्थात् संसार भर की उन्नति और आनन्द प्राप्ति को हीमुख्य प्रयोजन बतलाया है।

सत्य तो यह है कि वेदों के अनुयायी ब्रह्मा आदि महर्षियों के अनुगामी ऋषिवर दयानन्द के स्थापित किये हुए आर्य्य-समाज का मुख्योद्देश्य अभ्युदय और निश्रेयस की प्राप्ति रूप मनुष्य जीवन के उद्देश्य के अतिरिक्त और हो ही नहीं सकता था जैसा कि महामुनि पतंजली ने योगदर्शन के इस सूत्र में "भोगापवर्गार्थं दृश्यं" भोग अर्थात् अभ्युदय और अपवर्ग अर्थात-निःश्रेयस को ही सृष्टि का प्रयोजन और महर्षि कणाद-ने अपने वैशेषिक दर्शन के इस सूत्र में "यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धि सधर्मः" अभ्युदय और निःश्रेयस को उद्देश्य और धर्म को उसकी सिद्धि का साधन माना है, वैसा ही आर्य्य-समाज के प्रवर्तक ऋषि ने ६ (छटे) नियम में अभ्युदय रूप शारीरिक और सामाजिक उन्नति तथा निःश्रेयस रूप आत्मिक उन्नति को ही आर्यसमाज का मुख्योद्देश्य और पांचवे तथा सातवें नियम में वैदिक धर्म को ही उसका एक मात्र साधन बतलाया है।

आर्य्य समाज का स्वरूप

यद्यपि आर्य्य समाज के उद्देश्य के निश्चित रूपसे समझ

में आजाने के पश्चात् आर्य्य समाज का स्वरूप समझने में कोई कठिनाई नहीं रहती तथाऽपि कई एक आर्य्य भाई ऐसा कहते हैं कि आर्य्य समाज तीनों सभाओं में से केवल एक धर्मार्य्य सभा है, दूसरे शब्दों में आर्य्य समाज ब्राह्मण तथा संन्यासी का प्रतिनिधि केवल उपदेशक समाज है इस लिये इस पर विशेष विचार करने की आवश्यकता है।

१ आर्य्य समाज क्या है इसका उत्तर आर्य्य समाज शब्द स्वयं ही है क्योंकि ऋषिका किया हुआ नाम करण संस्कार निरर्थक नहीं हो सकता, आर्य्य समाज शब्द ही बतलाता है, कि वह मनुष्यजाति के उस विभाग का समाज है जो दस्युओं से भिन्न आर्य्य कहलाता है और जिस के अवान्तर भेद ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र है।

जैसा कि श्री स्वामी जी महाराज ने * सत्यार्थ प्रकाश के अष्टम समुल्लास में लिखा है।

"[प्रश्न] आदि सृष्टि में एक जाति थी वा अनेक ?

[उत्तर] एक मनुष्य जाति थी पश्चात् [ऋ०वेद वचन] श्रेष्ठों का नाम आर्य्य, विद्वान्, देव और दुष्टों का दस्यु अर्थात् डाकू मूर्ख नाम होने से आर्य्य और दस्यु दो नाम हुए„! "आर्य्यों में पूर्वोक्त प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार भेद हुए।"

सज्जनो ! संसार भरकी शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति रूप महान् उद्देश्य की सिद्धि न तो केवल अल्पशक्ति युक्त धर्मार्य्य सभा ही कर सकती है, और न यह ही सम्भव प्रतीत होता है कि ब्रह्म निष्ठ अनुभवी कर्म योगी ऋषि दयानन्द ने इस विशाल उद्देश्य की पूर्त्ती के लिये एक

ऐसे संकुचित असमर्थ समाज को स्थापित किया कि जिसका काम अध्यात्मिक सिद्धान्तोंतथा सदाचार के उपदेशतकही परिमितहै और बस, क्योंकि वैदिकधर्मप्रचारक धर्मार्य्यसभा अथवा आर्य्यसमाज रूपी शरीरके मस्तिष्क ब्राह्मण और संन्यासी विभाग के गौरव के सामनेशिर झुकाते हुएभी उसके बाहुरूप क्षत्रियादि अवयवों केबिना न तो उसको सर्वाङ्ग सम्पूर्णही कह सकतेहैं, और नहीं केवल मस्तिष्क को शरीर के अन्य अंगों की क्रिया का साधक ही माना जा सकता है, फिर इस अवस्था में [illegible] ओं द्वारा जो उद्देश्य [illegible] सिद्ध हो सकते हों, [illegible] सत्यार्थ प्रकाश के षष्ठ समुल्लास में इस प्रकार लिखते हैं।

> "महा विद्वानों को विद्या सभा अधिकारी, धार्मिक विद्वानों को धर्मसभा अधिकारी, प्रशंसनीय धार्मिक पुरुषों को राज्य सभा के सभासद् और उन सब में जो सर्वोत्तम गुण, कर्म, स्वभाव, युक्त हो उसको राज्य सभा का पति रूपमान के सब प्रकार से उन्नति करें।"

इस में स्पष्ट बतलाया गया है कि सब प्रकार अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति तीनों सभाओं द्वारा ही हो सकती है और यही बुद्धि सम्मत भी है, इतना ही नहीं वरन् जिन उपरोक्त तीनो सभाओं में से आर्य्य समाज को केवल धर्मार्य्य सभा समझा जाता है उनमें से प्रत्येक सभा के साथ ऋषि ने आर्य्य शब्द का प्रयोग किया है, और उपनियमोंकी धारा नं० ३ केअनुसार आर्य्यसमाज की परिभाषा में आर्य्यसमाजमें प्रविष्ट होने वाले को आर्य्य मानाहै

जिससे साफ मालूम होता है कि ये तीनों सभायें आर्य्य समाज के विशाल और विस्तृत स्वरूप के ही अवान्तर भेद हैं न कि आर्य्यसमाज उनमें से एक धर्मार्य्य सभा है, अतएव आर्य्य समाज और धर्मार्य्य सभा के पर्याय वाचक शब्द न होने से आर्य्य समाज धर्मार्य्य सभा नहीं है वरन् आर्य्य समाज के ब्राह्मण और सन्यासी विभाग का नाम धर्मार्य्य सभा है।

(२) आर्य्य समाज का संगठन भी उसके केवल धर्मार्य्य सभा होने का विरोधी है क्योंकि उसके जन्म दिन से ही (उप नियमोंकी धारा नं०३ "जो लोग आर्य्य समाज में नाम लिखाना चाहें और समाज के उद्देश्य के अनुकूल आचरण स्वीकार करें वे, आर्य्यसमाज में प्रविष्ट हो सकते हैं,।) के अनुसार समाज के नियमोंको मानने तथा तदानुकूल आचरण की प्रतिज्ञा करने वाला आर्य्य मात्र (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) आर्य्य समाज में प्रविष्ट होता चला आया है। इतना ही नहीं वरन् उपरोक्त उप नियम के अनुसार तो दस्युओं में से भी प्रत्येक वह मनुष्य जो कि आर्य्यसमाज के नियमों को सत्य मानता हुआ तदानुकूल आचरण करना स्वीकार करे, अथवा आर्य्यत्व को ग्रहण करे, आर्य्यसमाज में प्रविष्ट हो सकता है क्योंकि ऋषि मनुष्य मात्र की एक ही जाति के आर्य्य और अनार्य्य दो भेद केवल गुण, कर्म, स्वभाव से ही मानता है। न कि जन्म से, जैसा कि पहले बतलाया जाचुका है इससे सिद्ध है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य, और शूद्र, प्रकृति और प्रवृति के मिश्रित संगठित समुदाय ही का नाम आर्य्य समाज है पर आर्य्यसमाज में क्षत्रिय, वैश्य

और शूद्र प्रकृति और प्रवृति के मनुष्यों का भी होना इस बात को बतलाता है, कि उन की जरुरत भी समाज में है, सिर्फ संख्या बढाने के लिये ही क्रियात्मक समाज में उनको प्रविष्ट नहीं किया जाता, उनकी ज़रूरत उनकी प्रकृति और प्रवृति तथा अन्य सभाओं के स्वरूप को सन्मुख रखने से समझ में आ सकती है, जिस समाज का उद्देश्य आत्मिक उन्नति के अतिरिक्त शारीरिक और सामाजिक उन्नति करना भी हो और उसमें रक्षा और प्रबन्ध के योग्य क्षत्रिय और वैश्य तथा सेवा करने वाले शूद्र भी हों तो फिर उसको केवल गुरुओं अर्थात् उपदेशकोंकी ही समाज बतलाना उसके विस्तृत रूप को संकुचित बनाना और उसके गौरव तथा महत्व को मिटाना ही नहीं, वरन् उपदेश करने के अयोग्य शूद्रादि वर्णों के उस में अप्रयोजन प्रवेश से उसके संगठन को व्यर्थ सिध्द करना भी है। ऋषिवर दयानन्द तो धर्मार्य्य सभा का संगठन भी आर्य्य-समाज के सङ्गठन से भिन्न इस प्रकार बतलाते हैं,

"धार्मिक विद्वानों को धर्म सभा अधिकारी" अर्थात् जो सज्जन धार्मिक भी हो और विद्वान भी उनको ही धर्मार्य्य सभा का सभासद बनाया जावे—

क्योंकि धार्मिक विद्वान् ही धर्म प्रचार करने में समर्थ हो सकते हैं न कि आर्य्यसमाज के अविद्वान मेम्बर भी। अत एव आर्यसमाज तथा धर्मार्य्य सभा के स्वरूप में अन्तर होने के कारण आर्य्यसमाज केवल धर्मार्य्य सभा नहीं हो सकती। यह बात दूसरी है कि उस में से ब्राह्मणों और सन्यासियों की वैदिक धर्म प्रचारार्थ धर्मार्य सभा बनाई जावे॥

(३] तीसरे नियम में वेदों का पढ़ना, पढ़ाना और सु-

नना सुनाना आर्य्यों का परम धर्म्म बतलाया है, जिससे ज्ञात होता है कि जहां वेद पढाने और सुनाने वाले (ब्राह्मण और सन्यासी) आर्य्य समाजी होंगे वहां पढने और सुनने वाले (क्षत्रिय वैश्य और शूद्र) भी आर्य्यसमाजमें होंगे,इसलिये इन सब की समुदाय रूप आर्यसमाज केवल उपदेश करने वाली धर्मार्य्य सभा नहीं हो सकती ॥

४ आर्य्य समाज के संगठन की बाह्य आभ्यन्तरिक रक्षा, दृढ़ता तथा प्रबन्ध के लिये ग्रामीण आर्य्य समाजों प्रान्तिक आर्य्य प्रति निधि सभाओं और सार्व देशिक सभा में जो अधिकारी नियत किये जाते हैं, न तो उन प्रधान, मन्त्री, कोषाध्यक्षादि अधिकारी वर्ग को ही [उपनियमों में परिगणित उनके अधिकारों तथा काम और योग्यता की अपेक्षा से] ब्राह्मण कह सकते हैं, और न ही आर्यसमाजों आर्य्य प्रतिनिधि सभाओं सार्व देशिक सभा अन्तरगत अन्तरङ्ग सभाओं तथा उन तमाम उपसभाओं [जो कि उपनियमों के अन्तरगत अन्तरङ्ग सभा की धारा नं० १८ के अनुकूल विशेष प्रबन्ध के लिये बनाई जाती हैं।] को ही धर्मार्य्य सभायें कह सकते हैं, क्यों कि उनका मुख्य काम सब प्रकार का प्रबन्ध करना होता है, न कि उपदेश अतएव वह आर्य समाज भी कि जिस का यह सब उपरोक्त परिवार है केवल धर्मार्य्य सभा नहीं होसकता।

५ आर्य्य समाज शुरू से ही धर्मप्रचार विद्यालय, पुस्तकालय,अनाथालय समाज सुधार, पतितोद्धार,आदि साधनोंद्वारा मनुष्य समाज का सेवाकर रहा है, और उनमें से विद्याप्रचार और अनाथ रक्षादि काम धर्मार्य्य सभा के नहीं बल्कि अन्य

सभाओ के हैं तो फिरउस आर्य्य समाज को जो उपरोक्त सब काम कर रहा है केवल धर्मार्य्य सभा नहीं कह सकते अत एव उपरोक्त कथन से सिद्ध है कि आर्य्यसमाज केवल धर्मार्य्य सभा नहीं है प्रत्युत सभायें और उपसभायें इस के अन्तरगत हैं।

वैदिक धर्म ही संसार की शारीरिक आत्मिक और सामाजिक उन्नति का एक मात्र साधन है"

आर्य्यसमाज के उद्देश्य प्राप्ति अर्थात् संसार के उपकार करने का मुख्य साधन केवल धर्म और धर्मानुकूल ही अन्य गौण साधन हैं, उसका सिद्धान्त है कि सब प्रकार की यथार्थ उन्नति एक मात्र धर्म से ही सम्भव है, इसलिये उसके नियम सं०नं०५ "सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहियें" और नियम संख्या नं०७ "सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिये" में अपने तथा अन्यों के सम्बन्ध में धर्मपूर्वक प्रवृत्ति का ही आदेश किया है, यही वैदिक तथा महासिद्धान्त है, महर्षि कणाद ने भी—

'यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धिः सधर्मः,

इस सूत्र में केवल धर्म को ही अभ्युदय अर्थात् सांसारिक सुखों और उन्नति तथा निश्रेयस अर्थात् मोक्ष का साधन माना है, चूंकि मनुष्य (शरीर और आत्मा) के स्वभाव की अनुकूलता जिस मन्तव्य और कर्तव्य में हो उसको धारण

करना ही धर्म है, अथवा यों समझिये कि

प्रत्येक मनुष्यका मनुष्यत्व सम्बन्धि आत्मा शरीर तथा समाज अथवा प्राणिमात्र के वास्तविक कल्याण के लिये स्वार्थ तथा पक्षपात रहित देशकाल वस्तु अनुकूल जो ज्ञानपूर्वक मन्तव्य सहित कर्तव्य है।

वही धर्म है, इसलिये आत्मा शरीर और समाज का श्रेय धार्मिक प्रवृति में ही है अन्यथा नहीं क्योंकि मनुष्य तथा समाज अपने आप ही अपने को गिराने और उठाने वाला है, वह अपनी प्रारब्ध का निर्माता अथवा सुख दुःख की कृषि-का कृषिकार आप ही है, जब तक मनुष्य तथा समाज अपने उच्च विचारों और पवित्र आचारों द्वारा स्वतः धर्मात्मा नहीं बनता तब तक किसी अन्य के आश्रय अथवा अन्य की कृपा से उसका उद्धार नहीं हो सकता, या यों समझिये कि कोई भी विचार शून्य तथा आचार हीन पुरुष अथवा समाज अपने और अन्यों के लिये कल्याणकारी नहीं हो सकता।

धर्म आत्मावलम्बन और कर्मण्यता का पाठ पढ़ाता है, वह, सत्य असत्य, कर्तव्य, अकर्तव्य विचार पूर्वक शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक गुणों तथा शक्तियों के यथा योग्य प्रयोग के लिये मनुष्य को प्रेरित करता है, जैसा कि महर्षि जैमिनि जी ने चोदना लक्षणोऽर्थः धर्मः, में बतलाया है, वह धर्म निःस्वार्थ जीवन ही नहीं वरन दूसरों

के लिये जीना तथा आत्मसन्मान, आत्मनिर्णय, आत्मावश्य, और आत्मसमर्पण, सिखलाताहै,इसी अहिंसा सत्याऽस्त्येयादि गुणात्मिक धर्म को धारण करने से ही मनुष्य साधु (भला) बनताहै, साधुता लंगोटीलगाये जंगलमें बैठनेवाले,एकान्त सेवी विरक्तों की ही विभूति नहीं, प्रत्युत प्राकृतिक प्रलोभनों के विस्तृत क्षेत्रमें पड़े हुए सद् गृहस्थितपक्षियोंके लियेभी शिष्टाचारकी अत्यंत आवश्यता है, क्यों कि जहां जिनका किसी से किसी प्रकार का व्यवहार ही नहीं, ऐसे अलग रहने वाले मनुष्यों को साधुता और असाधुता के प्रयोग की जरूरत ही नहीं पड़ती, वहां कार्यक्षेत्र अथवा रङ्गभूमि में उतरे हुए वीर कर्मयोगी सद् गृहस्थियों को अधिकतया साधुभाव की आवश्यकता होती है, इस सिध्दान्त को स्मर्ण रखना चाहिये कि उस प्रत्येक मनुष्यप्रत्येक समाज प्रत्येक देश,तथा प्रत्येक राष्ट्र को जो कि दूसरों से अपने सम्बन्ध में साधुता से वर्ताव करने का इच्छुक है साधु बनाने वाले धर्म की जरूरत है, यह धर्म मनुष्य मात्र का एक ही हो सकता है, भिन्न २ नहीं, जैसा कि श्री स्वामी जी ने सत्यार्थ प्रकाश के एकादश समुल्लास में लिखा है।

"(उत्तर) धर्म सब का एक होता है वा अनेक? जो कहो अनेक होते हैं तो एक दूसरे से विरुद्ध होते हैं वा अविरुध्द ? जो कहो विरुध्द होते हैं तो एक के बिना दूसरा धर्म नहीं हो सकता और जो कहो अविरुध्द हैंतो पृथक२ होना व्यर्थ है, इसलिये धर्म और अधर्म एक है अनेक नहीं"

अतएव यह एक सत्य सिध्दांत है कि मनुष्य के मनुष्य

का धार्मिक भेद सम्भव ही नहीं क्योंकि धर्म स्वाभाविक है जहां भेद और विरोध है वहां धर्म नहीं है।"

पूर्वोक्त वैदिकधर्म मनुष्यको एक ही परमपिता परमात्माके अमृतपुत्र बतला तथा एक ही नित्य निराकार निर्विकार शुध्द बुध्द सर्वज्ञ, सर्व व्यापक, सर्व शक्ति मानादि अनन्त गुणों और शक्तियों के भण्डार ईश्वर की पूजा सिखला कर एक केन्द्र पर केन्द्रित करता है। यह धर्म, भेद भाव को मिटाने वाला और एकता का मूलमन्त्र तथा स्वतन्त्रता सेवा, परोपकार, सहानुभूति और दया का जनक है, यह मनुष्य मात्र को एक ही मनुष्यत्व और प्रेमके सूत्र में संगठित करके ईर्षा द्वेष और कलह को मिटा देता है।

वैदिक धर्म ही एक ऐसा केन्द्र है कि जिस पर * विचार और आचार सहवर्त्ती होते हैं, और विचार तथा आचार का परस्पर योग, एक प्रकार का योग है, जो कि मनुष्य जीवन की सफलता के लिये उतना ही आवश्यक है, जितना कि ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों का पारस्परिक योग जिस तरह ज्ञान तथा कर्मेन्द्रियां परस्पर की सहायता से ही सफलता प्राप्त कर सकती हैं उसी तरह विचार पूर्वक आचार ही सफलता का हेतु हो सकता है। जीवन उद्देश्य की प्राप्ति के लिये जितना विचारों को आचार रूप में परिणत करने की आवश्यकता है उतना ही आचारों का विचार पूर्वक होना भी

---

* विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥ यजु० अ। ४०। मं १४।

(अर्थ, ज्ञान और कर्म दोनों के सेवन से ही मनुष्य मृत्यु, को तैर कर अमृत को प्राप्त कर सकता है।

जरूरी है. शारीरिक कम प्रवृत्ति तो मनुष्यों और पशुओं में तुल्य ही होती है, केवल विचार पूर्वक प्रवृत्ति ही मनुष्यत्व को बोधक है।

ऋषिवर स्वामी दयानन्द जी ने सत्यार्थप्रकाश के अन्त के इस वाक्य "इस काममें चाहे कितनाही दारुण दु:ख प्राप्तहो चाहे प्राण भी भले ही जावें परन्तु इस मनुष्यपन रूप धर्म से पृथक न होवे, में जहां मनुष्यत्व और धर्म को परियाय वाचक माना है, वहां प्राणोंसे भी धर्मको अधिक मूल्यवान बतलाया है

यह वैदिक धर्म मनुष्य मात्र के समधिकार और समानता का सिद्धान्त सिखला कर हृदय और मस्तिष्क को पवित्र बना देता है * और पवित्र दिल और दिमाग में पाप और अनर्थ तथा अन्यों के अहित का भाव ही उत्पन्न नहीं है। सकता ...

समानी प्रपा सह वोन्नभागः समाने योक्त्रे सहवो युनज्मि सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥

अ० का० ३ अनु० ६ सू० ३१ । मं० ६ ।

अर्थ हे मनुष्यो तुम्हारे जलपान स्थानादि के स्थान अन्नादि भोग्य पदार्थों के भाग, अश्वादि के यान और धर्मानुकूल ... जैसे और एक साथ हों, जिनसे तुम सब परस्पर इस प्रकार संगठित रहो कि जिस तरह चक्र के आरे नाभी में और ऋत्विज तथा यजमान यज्ञ में रहते हैं ॥

(२) समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सहचित्त मेषाम् ॥ समानं मन्त्र मभि मन्त्रये वः समानेनवो हविषा जुहोमि ॥ ऋ० अ० ८ । अ० ८ । व० ४९ । मं० ३ ॥

अर्थ— हे मनुष्यो तुम्हारे विचार समतियें मन और लेन देन आदि व्यवहार एक से हों ॥

लिये उन में प्रवृत्ति भी नहीं होती यही एक वैदिक सत्यधर्म ही सार्व भौमिक और सनातन है जैसा कि स्वमन्तव्यऽमन्तव्य के आदि में ऋषिवर लिखते हैं।

"सर्व तन्त्र सिद्धान्त अर्थात् साम्राज्य सार्वजनिकधर्म जिस को सदा से सब मानते आये, मानते हैं, और मानेंगे, इस लिये उसको सनातन धर्म कहते हैं।"

अतएव इस धर्म से ही उभय अर्थात् अभ्युदय और अपवर्ग की सिद्धि अथवा संसार का कल्याण हो सकता है, यही पवित्र साधन है कि जिस मे आर्य्यसमाज संसार के उपकार रूप अपने पवित्र उद्देश्य की सिद्धि करना चाहिता है

"धर्माऽभासी मत पन्थ और मज़हब संसार का कल्याण नहीं कर सकते"

मत मतान्तरों का आधार केवल मनुष्यों की बुद्धियों तथा अधिकतया विश्वास पर है, अथवा सारे मत किसी विशेष मनुष्य या मनुष्यों के विचारों और विश्वास के ही प्रादुर्भाव मात्र हैं, चूंकि मनुष्य अल्पज्ञ और उनके संस्कार नैमित्तिक हैं इसलिये निमित्तों में भेद होने के कारण तद् जन्य संस्कारों और तदानुकूल विचारों और आचारों में भी पारस्परिक भेद और भ्रांति का होना सम्भव ही नहीं वरन आवश्यक है किन्तु जहां भेद और भ्रांति हो वहां अभ्युदय और अपवर्ग नहीं होसकते, मगर सांप्रदायिक जीवन परस्पर के विचारों और आचारों के भेद पर ही निर्भर है, और विचारों तथा आचारों की एकता में उन के अनेकता की [illegible] हो जाती है, इसलिये उनके जीवन को स्थिरता के

लिये यह सर्वदा भेद साधक साधनों की प्रवृत्ति में ही यत्नवान रहते हैं, इन्हें परस्पर की भेद सिद्धि के लिये विभेदिक विचारों और आचारों के प्रचार के अतिरिक्त जन्म सिद्ध आकृति के विरुद्ध कृत्रिम चिन्हों के द्वारा कृत्रिम आकृति भी बनानी पड़ती है इन के एक देशी मन्तव्य और कर्तव्य तथा लिङ्ग जहां मनुष्य समाज के लिये अनुपयोगी तथा ईर्षा द्वेष और विरोध के कारण हैं वहां सार्वभौमिक धर्म की प्रवृत्ति के मार्ग में प्रति बन्धक भी हैं, इसलिये जब तक भेद का मूल कारण साम्प्रदायिक अस्तित्व बना रहेगा मनुष्य समाज में पूर्णतया एकता प्रेम और शांति का होना असम्भव है।

बहुधा इनके विचार, विचार और आचार, आचार तक ही सीमित रहते हैं परस्पर इनमें सम्बन्ध नहीं होता, इसलिये इनका विचार रहित धार्मिक कर्म काण्ड निरर्थक और अनर्थक भी होता है, क्योंकि जब तक विचार आचार के रूप में परिणत तथा आचार विचार पूर्वक नहीं होते सफल नहीं हो सकते कर्म विहीन शुष्क ज्ञान और ज्ञान शून्य कर्म जो कि केवल अंध अनुकरण, अंध विश्वास तथा दुराग्रह मात्र से किये जाते हैं उनका परिणाम भी सिवाय श्रम और अधोगति * के कुछ नहीं निकलता वे अन्त को पश्चाताप का ही कारण होते हैं यही विचार शून्य आचार और आचार रहित विचार अविवेक और अकर्मण्यता के कारण हैं और अविवेक तथा अकर्मण्यता से जो भयंकर परिणाम निकलते हैं उनसे व्यक्तियें और समाज देश और राष्ट्र तबाह होजाते हैं इनसे मानुषी शक्तियों का ह्रास होकर जड़ता का प्रादुर्भाव होजाता है जितने परिमाण से किसी व्य-

* अन्धन्तम प्रविशन्ति ये विद्या मुपासते।
ततो भूयइवते तमोय उविद्यायाᳬरताः॥ यजु० ४०।१२॥

क्ति तथा समाज में इनका आवेश होता जाता है उतने ही परिमाण से वह व्यक्ति और समाज दुर्गति को प्राप्त होता जाता है।

विकाश और उन्नति के वृक्ष के लिये यह कुठार रूप हैं यह सजीव जगत् को निर्जीव बनाने वाले दोष हैं अपने तथा संसार के मंगलाऽकांक्षी सज्जनों के हृदय जिनके स्मरण मात्र से ही कांप उठते हैं उन दोषों के उत्पादक, पालक तथा प्रसारक, मत मतान्तर संसार की इष्ट सिद्धि तो क्या ही करेंगे अपना भी अनिष्ट ही कर रहे हैं॥ इसके अतिरिक्त एक देशी अनेक कल्पित ईश्वरों के उपासक केवल अपने २ पन्थाई कृत्रिम चिन्हों और कल्पित भावों को ही धर्म समझने वाले, पशु तथा मनुष्य बलि जैसी अमानुषी क्रिया अथवा हत्या काण्ड आदि निरर्थक और अनर्थक साधनों से आत्मिक शुद्धि और कल्याण मानने वाले पत्थर, धातु, वृक्ष, मढ़ी, मसान, आदि के पुजारी त्रयि काल असिद्ध देवी, देवता, जिन, भूत, प्रेत, फ़रिश्ते, शैतान, आदि कल्पित सत्ताओं के विश्वासी यन्त्र, मन्त्र, डोरा, तावीज़, आदि भ्रमों के प्रवर्त्तक और मनुष्य जीवन के अन्तिम उद्देश्य अपवर्ग को बिना यत्न किये केवल मान्य के योग्य अपने पूज्य महा पुरुषों (गुरुओं और पैगम्बरों) की कृपा से ही सम्भव समझने वाले पुरुषार्थ तथा आत्मावलम्बन के विरोधी पराश्रित मत मतान्तर संसार का उद्धार नहीं कर सकते।

जिन मत मतान्तरों के भेद जन्य संस्कारों ने एक मनुष्य जाति में अनेक कृत्रिम जाति भेद उत्पन्न कर दिये हैं जिनकी कृपासे मनुष्य जाति अनगिनत विभागों में विभक्त हो

ऐकता की सुखदायक और पवित्र वेदीसे पतित होकर परस्पर शत्रु बनरहा है जिनके कल्पित जाति भेदोंके द्वन्द युद्धने मैत्री और प्रेम के मधुर और सरस फलों को कुचल दिया है जिनके परस्पर के घृणा उत्पादक संस्कारों ने संगति करण के स्वर्गीय नियम को असंभव बना दिया है अथवा सृष्टि नियम के विरुद्ध जिनकी वियोजक और विभाजक क्रियाओं से संघ शक्ति प्रलयाभिमुख हो चुकी है वह उन्नति के मार्ग में कृत्रिम जाति भेद रूपी विषम, दुर्गम और दुःसाध्य चक्र व्यूह बनाने वाले मत मतान्तर जगत् के लिये मंगल कारी नहीं हो सकते।

जिन संप्रदाओं की कृपा से गुण, कर्म, स्वभाव विरुद्ध एक मनुष्य जाति में इनके कल्पित जन्म सिद्ध ऊंच और नीच आदि मिथ्या मन्तव्यों की चिता में द्वेषाऽग्नि से जन्म सिद्ध मनुष्यमात्र के सब अधिकार और समानता का अन्त्येष्टि संस्कार हो गया हो। अथवा मनुष्य समाज की हित कर आवश्यकताओं को पूरा करने वाले कर्म शील गुणवान व्यसाइयों को अस्पृश्य और आलसी प्रमादी गुण हीन भिखारियों को उच्च माना जाता हो उन संप्रादाओं से मनुष्य समाज के श्रेय की आशा निर्मूल है।

जिन में अपनी जन्म दाता, नौ (९) मास उदर में रखकर अपने रुधिर और वाल्यावस्था में अपने दुग्ध से पालन पोषण तथा निस्वार्थ अतुल्य प्रेमसे लालन करनेवाली पूज्या मातृशक्ति (स्त्री जाति) को शूद्र समझ निरन्तर रख कर अनादरणीय और अपमानित किया जाता हो और जिनके विघातिक लिखा-

न्तानुसार वंशो को निर्वंश, मनुष्य जाति को पौरुषहीन, बल-हीन, बुद्धि हीन, आयु हीन, और रोगी बनाने वाले माता पिता बनने के अयोग्य बालक और बालकाओं के विवाह होते हों और जिन की दया से शून्य क्रूर भयंकर और हत्यारी प्रथा की घायल एक से १० वर्ष की आयु तक की लाखों अबोध निर-पराध विधवायें आजन्म वैधव्य के प्रचण्ड अग्नि कुण्ड में पड़ी बिलखती हुई हाहाकार मचाती हों उन पन्थों से संसार का उपकार सम्भव नहीं हो सकता।

जिन में बिचार और आचार की विशेषता तथा योग्यता के प्रमाण बिना केवल वंशीय गुरुता और पन्थाई चिन्ह ही मान और बड़ाई के कारण हों अथवा विद्वान्, सदाचारी, बीर, तपस्वी, कर्मयोगियों के स्थान में निरक्षर, दुराग्रही, इन्द्रियाराम आलसिओ, की पूजा होती हो जिन में सदाचार के विरुद्ध धर्म के नाम पर घृणित से घृणित १ अत्याचार और २ दुराचार जायज़ (उचित) समझा जाता हो इत्यादि मिथ्या बिचारों, निरर्थक और अनर्थक आचारों, तथा अविद्या जन्य संस्कारों के, प्रसारक और प्रचारक तथा मनुष्य जाति के पारस्परिक एकता और प्रेम के प्रति बन्धक और धार्मिक सद् भावों के विरोधी मत मतान्तर संसार के कल्याण का हेतु कदापि नहीं हो सकते।

---

१ पशु तथा मनुष्य बलों २ मैथुनादि

अधर्म से भी संसार का कल्याण नहीं हो सकता।

शरीर आत्मा और समाजके विरुद्ध, अस्वाभाविक आचारों और विचारों का नाम अधर्म है, अथवा धर्म का प्रतिद्वन्द्वी अधर्म है। अधर्म परोपकार उदारता और निस्वार्थता आदि दैवी प्रवृत्ति का विरोधी और आसुरी प्रवृति का सहायक है। हिंसा, झूठ, चोरी, छल, कपट, अन्याय, ईर्षा, द्वेष, आलस्य, प्रमाद, तथा अनुचित काम, क्रोध, लोभ, मोह, स्वार्थ आदि सब इसका ही परिवार है जितनी मात्रा में इन अवगुणों और दुर्गुणों की प्रवृत्ति होगी। उतना ही दुःख संसार में होगा। यह व्यक्तियों और समाजों के लिये अत्यन्त हानिकारक तथा पतित बनाने वाले दोष हैं। इनकी उपस्थिति में नतो सम्पत्ति, सतीत्व, अधिकारादि ही सुरक्षित रह सकते हैं, और न हीं स्वतन्त्रता के अनुरुप, आत्मसम्मान, आत्मावलम्बन, आत्म रक्षण, आत्म निर्णय, आत्म चिन्तन आदि में मनुष्यों का निष्कण्टक प्रवृत्ति हो सकती है। जहां ये दोष मौजूद हों वहाँ निस्वार्थ प्रेम, मैत्री, सहानुभूति, आत्मौपम्य और आत्म-समर्पण आदि सद्भावों का विकाश नहीं हो सकता। अधर्मात्मक दोषोंकी निवृत्ति से ही आत्म उद्धार और समाज सुधार की सम्भावना हो सकती है। अधर्मी सदा अशान्त, असन्तुष्ट और अतृप्त रहते हैं, उनके अन्दर सदा शङ्का, लज्जा और भय बने रहते हैं। वे अपनी मनोरथ सिद्धि के लिये सर्वदा दम्भ जाल रचा करते हैं। स्वार्थान्ध अधर्मी अपने विचारों और आचारों को गुप्त रख कर दूसरों को सदा अन्धेरे में रखने का यत्न

करते और कपट मुनिकी तरह सदा अपने आपको धर्मके परदे में छिपाए रखते हैं इसलिये वह समाज के तस्कर हैं। उनके आत्मा के आदेश के विरुद्ध मानसिक भाव, मानसिक भावों के विरुद्ध कथन और कथन के विरुद्ध क्रिया होतीहै। जो अपने शरीर, मन और आत्मा के विरुद्ध बलात्कार उनसे काम लेकर उनका हनन करते रहते हैं उन आत्म हत्यारों से दूसरों की भलाई की आशा रखना व्यर्थ है। बलात्कार अपनी पाशविक शक्तियों और मक्कारियों से संसार भर को फुटबाल बनाने के इच्छुकों से उन्नति एकता और शान्ति की कामना भ्रम मूलक है। जो अपनी न तृप्त होने वाली इन्द्रियों के लिये दूसरोंका अहित और हनन करते हैं वे दूसरोंसे भी अपने हित और रक्षा की आशा नहीं रख सकते। जो अपनी इन्द्रियों पर शासन नहीं कर सकते वे संसार में अच्छे शासक नहीं बन सकते। जो लोग मर्यादा तोड़ते हैं वे मर्यादा पुरुषोत्तम नहीं कहला सकते और न ही मर्यादा स्थापित कर सकतेहैं। अशांत अतृप्त भोगों के लोलुप भोगी पारस्परिक योग के साधक नहीं बन सकते। यही नहीं कि भोग आत्मा और परमात्मा के योग का ही प्रतिबन्धक है, प्रत्युत् भोग की लालसा व्यक्तियों समाजों और राष्ट्रों में भी योग नहीं होने देती। वैदिक धार्मिक फिलोसोफी बतलाती है कि भोगी योग नहीं बन सकता। इस शब्द समुदाय के अन्दर संसार के कल्याण का रहस्य भरा हुआ है इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं कि भोगों की लालसा से विरक्त योगी सज्जन ही आत्माओं को आत्माओं और आत्माओं को परमात्मा से मिला सकते हैं। जहां त्याग वृत्तिके मर्म को न समझने से त्यागी पुरुष अज्ञान से जीवनकी आव-

श्यकताओंसे निरपेक्ष रहकर आलसी बन, अपना बोझ दूसरों परडालने की भूल करते हैं, अथवा निरुद्यमी होकर शारीरिक मानसिक और आत्मिक शक्तियों के नष्ट करने का पाप करते हैं, वहां प्रवृत्ति शील कर्म योग की धुन में निमग्न सज्जन भी त्याग भाव और उदारता से विमुख होकर लालच में फंस व्यक्तियों,को व्यक्तियों समाजों को समाजों और राष्ट्रों को राष्ट्रों सेटकरा कर सुख और शान्ति का नाश करते हैं। उनकी धर्म विरुद्ध भोगों की अत्यन्त लोलुपता रूप दहकती हुई प्रचण्ड भट्ठी में पडा हुआ संसार सुखी नहीं हो सकता।

पाशविक प्रवृत्ति का अनुवर्त्ती

" Might is Right " " [बल ही अधिकार है] " वाद भी * वेद विरुद्ध भाई को भाई, पिता को पुत्र, माता को पुत्री, पति को पत्नी, हमसाया को हमसाया, और एक देश को दूसरे देश से लड़ाता है। यह नीच सिद्धान्त कमजोरों के अधिकारों तथा सम्पत्ति को छीन लेने का पाठ पढ़ाता और लूट मार के लिये उत्साहित करता है। इस वाद के अनुयायी

---

* य ईशिरेभुवनस्य प्रचेतसोविश्वस्य स्थातुर्जगतश्चमन्तवः।
तेनः कृतादकृतादेन सस्पर्यद्यादेवासः पिपृतास्वस्तये॥
ऋ० १०। ६३। ८

अर्थः—स्थावर जंगम रूप सारे संसार के हित चिंतन करने वाले व शष बुद्धिमान ईश्वरों (लिडरों) का अनुकरण करने से ही हम शारीरक और मानसिक पापों से बच सकते हैं।

गिद्द की तरह निर्बलों का मांस नोचते और चीलों की तरह दूसरों के हाथ से रोटी का टुकड़ा छीनने को झपट मारते हैं। व हर समय बगले की तरह परधन तथा पर प्राण हरण करने की ताकमें लगे रहते हैं। इस सिद्धान्तकी अनुगामिनी व्यक्तियें तथा जातियें दूसरोंको कमज़ोर तथा आधीन बनाने और मर्दन करने आदि नीच भावों की पूर्ति के लिये ही साधन पैदाकरती रहतीहैं इनको विद्या बुद्धि तथा शारीरिक बल सदा दूसरों की हानि और बलके नाश करने में ही खर्च होताहै। यह बल और शक्ति के सदुपयोग से होने वाले सुख और शान्ति के स्थान में उनके दुरुपयोग से दुःख और अशान्ति बढ़ाते हैं। परार्थ हानि और स्वार्थ सिद्धि ही इनका उद्देश्य बन जाता है। उपरोक्त बलको ही अधिकार मानने का घृणित और पाशविक भाव मनुष्यत्वका विरोधी है जैसा कि श्री स्वामीजी सत्यार्थ प्रकाश में लिखते हैं:—

"क्यों कि जैसे पशु बलवान् होकर निर्बलों को दुःख देते हैं और मार भी डालते हैं, जब मनुष्य शरीर पाके भी वैसा ही कर्म करते हैं तो वे मनुष्य स्वभावयुक्त नहीं किन्तु पशुवत् हैं। और जो बलवान् होकर निर्बलों की रक्षा करता है वही मनुष्य कहाता है और जो स्वार्थ वश हो पर हानिमात्र करता रहता है वह जानों पशुओं का भी बड़ा भाई है"।

जहां इस विघातक मन्तव्यों और कर्त्तव्योंके समर्थक सिद्धान्त की प्रवृतिहोगी वहां मर्यादा और न्यायके लिये कोई स्थान नहीं है। इस से संसार में सदा हत्याकाण्ड काही चक्र रहा है और रहेगाजोव्यक्तियें समाज और राष्ट्र,इस सिद्धान्तके अनुयायीहोंगे

वे मनुष्य समाज के अधिकारों और सम्पत्ति के रक्षक तथा सुख और शान्ति के संस्थापक नहीं हो सकते; क्योंकि यदि लालची लुटेरे व्यक्ति दुःखों के बढ़ाने वाले और मनुष्य समाज को अहित कर हैं, तो स्वार्थी लुटेरे समाजों और राष्ट्रों से भी मनुष्यों के कल्याण की आशा नहीं हो सकती।

शठं प्रति शठं कुर्यात् सादरं प्रतिसादरम्

का सिद्धान्त भी वैदिक शिक्षा के विरुद्ध* है क्यों कि यह प्रत्येक पुरुष को शठ के प्रति शठ बनने की प्रेरणा करता है। यदि शठता और ठगी अधर्म है तो अधर्म से धर्म की रक्षा और अधर्म की निवृत्ति नहीं हो सकती हिंसक से हिंसक, झूठे से झूठा, चोर से चोर, मक्कार से मक्कार, अत्याचारी से अत्याचारी, बनकर मुकाबिला करना हिंसा झूठ, चोरी, मक्कारी और अत्याचार की वृद्धि करना है अथवा हिंसकों, झूठों, चोरों, मक्कारों, और अत्याचारियों, की संख्या को बढ़ाना है। साधुता और पवित्रता का ह्रास और भलों को भी बुरा बनाना है। स्वरूप से कोई भी शठ, नीच या हिंसक आदि नहीं है। जिस प्रकार का अभ्यास होगा उसी प्रकार के संस्कार और प्रकृति बन जावेगी। इस दावघात की नीतिसे बुरों को भला बनानेके स्थानमें भलेबुरे बनाये जावेंगे, शिष्टाचार के स्थान में दुष्टाचार फैलेगा, पुण्याचरण के स्थान में पापाचरण की वृद्धि होगी,

* पुनर्ददताघ्नता जानता संगमेमहि ॥ ऋ० ५।५१।१५

अर्थ:—हम सब घात पात न करने वाले ज्ञानी नेताओं (लीडरों) साथ चलें।

न्याय चाहने वाले अन्याय के प्रचारक बनेंगे; सरलता का नाश होकर परस्पर अविश्वास बढ़ेगा; प्रत्येक मनुष्य प्रत्येक समाज दूसरों को नीचा दिखलाने और कमज़ोर बनाने के लिये दाव घात में लगा रहेगा। जिन दुर्गुणों से संसार पहिले ही पीड़ित है, उनकी अधिक प्रवृत्ति होगी। शठों और नीचों का तिरस्कार करने वाले शठता और नीचता के प्रयोग से स्वयं शठ और नीच बन जावेंगे। जब दुष्ट स्वभाव बनगया, फिर दुष्टों की श्रेणी में प्रवेश होजाने से श्रेष्टों से भी श्रेष्ठताका व्यवहार नहीं कर सकेंगे। इस बदला अर्थात् "एसे के साथ तैसा" बनने की कूट नीति ने संसार को पहिले ही पतित और दुःखी बना रखा है, फिर सिद्धान्त रूप से इसका समर्थन करना और भी अनर्थ कारी होगा। इसविश्वास घातक नीतिके बुरा होनेमें इस से प्रबल और क्या प्रमाण हो सकता है कि इसके प्रयोक्ता भी स्वयं अपने को मक्कार और धोकेबाज़ मानने को तय्यार नहीं। वे स्वतः धोके और मक्कारी से घृणा करते हैं। प्रत्येक वह मनुष्य जिस के साथ धोकावाज़ी और मक्कारी की जाती है, धोके बाज़ और मक्कार को बुरा और पापी समझता है। यदि यह नीति मनुष्य स्वभाव के अनुकूल होती, तो प्रत्येक आत्मा इस से घृणा न करता।

'आत्मौपम्य की कसौटी"

पर भी यह नीति कर्तव्य (धर्म) नहीं ठहर सकती, अर्थात् जब कि कोई भी मनुष्य मक्कारी और धोखे को अपने लिये पसन्द नहीं करता तो फिर वह दूसरों के लिये उसेकैसे उचित ठहरा सकता है। जिन दुर्गुणों को वैयक्तिक जीवन में

दूषण रूप समझा जाता है उन्हीं अवगुणों को सामाजिक या राष्ट्रीय जीवन में 'पालिसी' का विकृत नाम देकर भूषण रूप मान लेना जीवन की नैसर्गिक पद्धति के विरुद्ध है। वैयक्तिक स्वार्थ सिद्धि के लिये जो साधन पाप रूप हैं, वे सामाजिक तथा राष्ट्रीय—स्वार्थ की सिद्धि के लिये पुण्यरूप नहीं हो सकते।

मनुष्य जीवन के उद्देश्य की प्राप्ति में भी उपरोक्त नीति बाधक है, क्योंकि इसका अभ्यास आत्मा को पतित बना देता है। और पतित आत्मा श्रेय का अधिकारी नहीं हो सकता। कहा जाता है कि ऊपर का कथन काग़ज़ों पर लिखने और बोलने में बहुत अच्छा और चित्त को आकर्षित करने वाला प्रतीत होता है किन्तु जहां इसका प्रयोग असम्भव के निकटवर्ती है, वहां इसका फल भी असफलता के सिवाय और कुछ नहीं निकलता। परन्तु यह बिना मक्कारी के नाकामयाबी का विश्वास या आत्मा की पतित अवस्था के ही कारण है। यह विचार भी कि 'कूटनीति' के बर्तने वाले देश हमेशा आगे बढ़े हुए और धर्म पर चलने वाले पददलित रहेंगे, केवल कुसंस्कारों और मानसिक दुर्बलताओं का ही परिणाम है। क्योंकि इतिहास बतलाता है कि युगों के पलटने वाले जगद्विख्यात बुद्ध दयानन्द आदि बड़े बड़े सुधारकों के दम्भ रहित स्पष्ट वक्ता होने पर भी सफलता उनके चरण चूमती रही है। सफलता का कारण मक्कारी कदापि नहीं हो सकती, वरं लोकहित को आदर्श बनाकर तथा सत्यधर्म पर पूर्ण विश्वास करके तदनुकूल कर्मानुष्ठान में धैर्य और दृढ़तापूर्वक लगे

रहने से ही सफलता प्राप्त हो सकती है; अतः उपरिलिखित सन्देह भी निस्सार है।

इस वाप-नीति को "अपवाद" वा आपद्धर्म मानकर भी इसका समर्थन नहीं कर सकते, क्योंकि अपवाद उसे कहते हैं जो कि किसी विशेष समय में धर्म के किसी पवित्र लक्षण के प्रयोग में हानि समझकर (किं कर्तव्य विमूढावस्था) अब क्या करना चाहिये इस प्रश्न को पैदा करके अनिश्चित अवस्था पैदा करदे उस समय भी आचार शास्त्र, खुल खुल्ला अधर्म की आज्ञा नहीं देता, प्रत्युत किसी ऐसे मध्यवर्ती प्रयोग की सलाह देता है जिससे कार्य भी सिद्ध हो और अधर्म भी न करना पड़े। इसके अतिरिक्त सिद्धान्त केवल 'धर्म' को ही माना जा सकता है। अपवाद कभी भी सिद्धान्त नहीं बनसकता। अपवाद सर्वदा अपवादही रहेगा। 'आपद्धर्म वह होता है कि जिसका किसी विशेष दुःख के समय प्रयोग किया जावे, किन्तु 'शठं प्रति शठं कुर्यात् सादरं प्रति सादरम्" का सिद्धान्त तो प्रत्येक मनुष्य को प्रत्येक समय में शठ के साथ शठ और सादर के सादर बनने की आज्ञा देता है अर्थात् अधर्म और धर्म का साथ २ प्रचार करता है। अधर्म कोभी धर्म के बराबरही आवश्यकता बतलाता है। इसमें खास वक्त और खास दुःख की अपेक्षा नहीं है। इसलिये इसे अपवाद या आपद्धर्म भी नहीं कह सकते। अपवाद और आपद्धर्म की ओट में अधर्म का प्रचार करना साधुता तथा आचार शास्त्र के विरुद्ध है। कुप्रवृत्ति को भी केवल युक्ति-[illegible] से कुप्रवृत्ति सिद्ध करने का [illegible] साहस मात्र है। [illegible] प्रत्येक [illegible] और अपनी [illegible] स्वार्थ सिद्धि के

साधक अधर्म रूप अपने छल कपट और दम्भ को भी अप-वाद और आपद्धर्म कह सकता है। अतएव यह मन्तव्य भी पाप का सहायक होने से संसार की शारीरिक, सामाजिक और आत्मिक उन्नति का हेतु नहीं हो सकता।

धर्म और राजनीति

आज अवैदिक संस्कारों के प्रभाव से प्रभावित होकर अथवा Religron (मत, पन्थ) और Politics (राजनीति) के उपस्थित स्वरूप के भेद के कारण धर्म और राजनीति को भी भिन्न २ समझा जाता है। यह भी सम्भव है कि अधर्मरूप छल कपट आदि को राजनीति में जायज समझकर उसको धर्मसे पृथक माना गया हो, किन्तु वैदिक सिद्धान्तानुसार राज-नीति को धर्मसे पृथक नहीं माना जासकता। वैदिक परिभाषा में राजनीतिको "राजधर्म" भी कहते हैं! देखो छटे समुल्लास (सत्यार्थप्रकाश) का शीर्षक "अथ राजधर्मान् व्याख्यास्यामः" तथा मनु महाराजका श्लोक "राजधर्मान् प्रवक्ष्यामि" इत्यादि। इसी कारण ऋषि दयानन्द ने राजार्य सभा के संगठन में:—

"प्रशंसनीय धार्मिक पुरुषों को राजसभा के सभासद" बनाने का उपदेश किया है, क्योंकि धार्मिक पुरुष ही धर्मानु-कूल राजनैतिक नियमों का निर्माण करके उनका यथावत् प्रयोग करा सकते हैं।

इससे पता लगता है कि राजनीति, धर्म से पृथक अधर्म-रूप नहीं है, प्रत्युत शुद्ध वैदिक राजनीति और धर्म का अवयव और अवयवी का सम्बन्ध है। या यों समझिये कि

राजनीति धर्म का ही एक अङ्ग है। यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धिः सद्धर्मः', के अनुसार यदि धार्मिक नीति शारीरिक सामाजिक रक्षा, सुधार और उन्नतिरूप अभ्युदय और आत्मिक सुधार, और उन्नति रूप निःश्रेयस का साधन है तो राजनीति का उद्देश्य भी वैयक्तिक तथा सामाजिक रक्षा, सुधार और उन्नति ही है इसलिये अभ्युदय की साधक "राजनीति" भी धर्म का ही अवान्तर भेद है। अभ्युदय के हेतु न्यायानुकूल दण्ड और सत्योपदेश एक ही साध्य के साधन हैं। सब प्रकार के सुधार का मुख्य साधन "धर्म" और शारीरिक तथा सामाजिक सुधार का गौणसाधन धर्मानुकूल 'दण्ड' भी है। शठ, छली, कपटी और नीचों, के लिये दण्ड भय, और सरल मनुष्यों के लिये उपदेश अधिक लाभकारी होता है। व्यक्तियों और समाजों के नाश करने वाले असत्य, अन्याय, चोरी, दुराचार अनाचार आदि दुर्गुणों, दुर्व्यसनों और दुर्विचारों को दूर करना धर्म और दोनों का एक ही लक्ष्य है। जुर्म और पाप के एक ही अर्थ हैं यद्यपि त्यागी, शान्तिप्रिय ब्राह्मण और सन्यासी धर्मात्मा विद्वानों के समुदाय रूप धर्मार्य सभा का काम प्रेम से प्रचार द्वारा पाप निवृत्ति और पुण्य प्रवृत्ति है तो वीर उत्साही क्षत्रिय धर्मात्मा विद्वानों के समूह रूप राजार्य सभा का काम भी धर्मानुकूल दण्ड भय द्वारा पापों (जरायम) की निवृत्ति और अहिंसा सत्य न्यायादि पुण्य प्रवृत्ति ही है। अथवा दोनों का काम आर्यत्व की रक्षा और अनार्यत्व का ह्रास ही है। इसलिये पालिटिक्स अथवा कूटि राजनीति धर्म से तथा शुद्ध वैदिक राजनीति भी मजहबों से भले ही पृथक क्यों न हो किन्तु प्रजा की सुधारक

और कल्याणकारक न्याय और शांति की संस्थापक, शुद्ध वैदिक राजनीति धर्म से पृथक कदापि नहीं हो सकती। राजनीति को धर्म से पृथक करना उसको धर्म के उच्च आसन से गिराकर राजनैतिक उद्देश्य (प्रजा की रक्षा, सुधार और उन्नति) की सिद्धि में असमर्थ और निरर्थक बनाना है, क्योंकि धर्म के बिना अधर्म से वास्तविक सुधार और उन्नति का होना सम्भव ही नहीं। सच तो यह है कि जब तक शक्तिशाली धर्मात्मा न्यायप्रिय सज्जन ही राज सभा के अधिकारी और राजकर्मचारी न बनाए जावेंगे—और पूर्ण विद्वान अनुभवी स्वार्थ तथा पक्षपात—रहित, त्याग-वृत्ति प्रधान धर्मात्मा सज्जन ही नीति नियमों के निर्माता न होंगे। अथवा जब तक धर्म की पवित्र नींव पर ही नीति के मन्दिर का निर्माण न किया जावेगा तब तक दुःख और अशांति की निवृत्ति और सुख तथा शांति की प्राप्ति नहीं हो सकती। भलाई तो इसी में है कि दुष्टों को सदा कारागार में रखने वालो और [illegible] उन्हीं [illegible] जातियों को निर्बल और परतन्त्र बनाने, तथा स्वार्थ सिद्धि करने वाली कूटनीति को राजनीति ही न माना जावे। जब तक ऐसा न होगा, अभ्युदय और निःश्रेयस अथवा मनुष्य जीवनोद्देश्य की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती! राजनीति की बागडोर का अधर्मात्माओं के हाथ में होना तथा व्याघ्र के पंजे में मांस का होना एकार्थक है। अतएव राजनीति की सार्थकता के लिये उसका धर्मानुकूल होना परमावश्यक है।

सारांश

उपर्युक्त लेख का सारांश यह है कि आर्य्यसमाज दस्युओं (बुरों) से भिन्न आर्यों [भलों] का समाज है संसार का उपकार करना उसका मुख्य उद्देश्य है, और सत्य धर्म ही उसके पास उद्देश्य प्राप्ति का एकमात्र साधन है। पृथिवी भर उसका कार्य-क्षेत्र है। और अपने अन्तर्गत तीनों मुख्य सभाओं [धर्म आर्य्य सभा [आर्य प्रतिनिधि सभा] विद्याआर्य्यसभा राजआर्य्यसभा] तथा अन्य गौण सभाओं द्वारा वैदिक धर्म अर्थात् वेदमूलक धर्मरूप पारमार्थिक तथा व्यवहार सम्बन्धी राजनैतिक आदि सर्वविद्याओं और क्रियाओं का वाणी और कर्म द्वारा यथावत प्रचार करके संसार की शारीरिक आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना उसका परम कर्तव्य है। इस लिये यह सर्वतन्त्र सार्वजनिक धर्म का अवलंबन करने वाला सार्वभौमिक धार्मिक समाज है। चूंकि धर्म मनुष्यमात्र के लिये एक ही है अत:आर्यसमाज का किसीभी देश विशेष वा समुदाय विशेष से विशेष सम्बन्ध नहीं। प्रत्युत मनुष्य मात्र से उसका समान संबन्ध है।" उदार चरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् " के अनुसार सारा संसार ही उसका परिवार है। अथवा यूं समझिये कि उपर्युक्त उद्देश्य साधन तथा आर्यसमाज के सार्वभौमिक नियमों को मन्तव्य और कर्तव्य समझने वाला प्रत्येक देश वासी समुदाय ही आर्य्यसमाज है। जैसा कि बंबई में बनाये हुए ऋषि के आर्य्य समाज के नियम की सं० नं ३ " इस समाज में प्रति देश के मध्य एक प्रधान समाज होगा। और अन्य उसकी शाखा समझी जावेंगी " से साफ़ ज़ाहिर है। तथा स्वमन्तव्यामन्तव्य के आदि में भी उसके पूज्य प्रवर्तक ने लिखा है।

"मैं अपना मन्तव्य उसी को जानता हूं जो तीन काल में सबको एक सा मानने योग्य है, मेरा कोई नवीन कल्पना वा मत मतान्तर चलाने का लेश मात्र भी अभिप्राय नहीं है किन्तु जो सत्य है उसको मानना मनवाना और जो असत्य है उसको छोड़ना छुड़वाना मुझको अभीष्ट है। यदि मैं पक्षपात करता तो आर्यावर्त में प्रचलित मतों में से किसी एक का आग्रही होता" इससे स्पष्ट है कि एक देशी सङ्कुचित भावों के प्रचारक तथा मनुष्य समाज को अनेक भागों में विभक्त करने वाले प्राचीन वा नवीन मत मतान्तरों की तरह आर्य्य समाज भी कोई सम्प्रदाय नहीं। प्रत्युत यह सर्वतन्त्र सार्वजनिक सिद्धान्तों तथा धर्म से ही संसार का कल्याण मानने वाला धार्मिक समाज है।

न यह किसी का विरोधी है और नहीं सृष्टि नियमों के विरुद्ध किसी असत्य विश्वास का पक्षपाती वा आग्रही ही है हां यह मनुष्यमात्र के परम स्नेही एकता के अनुरागी सर्वांश-पूर्ण सत्याग्रही आचार्य के चरण चिन्हों पर चलने वाला सत्याग्रही अवश्य है।

सत्यार्थप्रकाश का उपक्रम उपसंहार और अभ्यास भी इसकी पुष्टि करता है। यथा

स० की भूमिका

"मेरा इसग्रन्थ के बनाने का मुख्य प्रयोजन सत्य असत्य का प्रकाश करना है अर्थात जो सत्य हैं उसको सत्य और जो

मिथ्या है उसको मिथ्या प्रतिपादन करना, सत्य असत्य का प्रकाश समझा है।"

"और न किसी का मन दुखाना वा किसी की हानि पर तात्पर्य है किन्तु जिससे मनुष्य जाति की उन्नति वा उपकार हो सत्यासत्य को मनुष्य लोग जानकर, सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग करें, क्योंकि सत्योपदेश के बिना अन्य कोई भी मनुष्यजाति की उन्नति का कारण नहीं है।"

"इसमें यह अभिप्राय रक्खा गया है कि जो जो सब मतों में सत्य २ बातें हैं वह सब में अविरुद्ध होने से उनका स्वीकार करके जो जो मतमतान्तरों में मिथ्या बातें हैं उनका खण्डन किया है। जिससे सबसे सबका विचार होकर परस्पर प्रेमी होके एक सत्य मतस्थ हों।"

"[illegible] जैसे आजकल [illegible] और दूसरे [illegible] वैसे [illegible] परन्तु ऐसे [illegible] मनुष्य [illegible]।"

[illegible] मिथ्या [illegible] में बहुत से अनर्थ उत्पन्न होते [illegible]।

"इसलिये जैसा मैं पुराण जैनियों के ग्रन्थ, बाईबल और कुरान को प्रथम ही बुरी दृष्टि से न देखकर उनमें से गुणों का ग्रहण और दोषों का त्याग करना तथा अन्य मनुष्य जाति की उन्नति के लिये प्रयत्न करता हूँ वैसा सबको करना योग्य है।"

एकादश समुल्लास की अनुभूमिका

"जो २ इसमें सत्य मत का मण्डन और असत्य का खण्डन लिखा है वह सब को जनाना ही प्रयोजन समझा गया है"

'इस मेरे कर्म से यदि उपकार न मानें तो विरोध भी न करें क्योंकि मेरा तात्पर्य किसी की हानि वा विरोध करने में नहीं है, किन्तु सत्याऽसत्य के निर्णय करने कराने का है'

बारहवें समुल्लास की अनुभूमिका

'जब तक वादी प्रतिवादी होकर प्रीति से वाद वा लेख न किया जाय तब तक असत्य का निर्णय नहीं हो सकता, इसलिये सत्य की जय और असत्य की क्षय के अर्थ मित्रता से वाद वा लेख करना हमारी मनुष्य जाति का मुख्य काम है। यदि ऐसा न हो तो मनुष्यों की उन्नति कभी न हो"

तेरहवें समुल्लास की अनुभूमिका

"यह लेख केवल सत्य की वृद्धि और असत्य के ह्रास होने के लिये है न कि किसी को दुःख देने व हानि करने अथवा मिथ्या दोष लगाने के अर्थ"

चौदहवें समुल्लास की अनुभूमिका

"यह लेख केवल मनुष्यों की उन्नति और सत्याऽसत्य के निर्णय के लिये, सब मतों के विषयों का थोड़ा २ ज्ञान होवे. इससे मनुष्यों को परस्पर विचार करने का समय मिले, और एक दूसरे के दोषों का खण्डन कर गुणों का ग्रहण करें, न

किसी अन्य मत पर न इस मत पर झूठ मूठ बुराई व भलाई लगाने का प्रयोजन है"

"क्योंकि यह लेख हठ दुराग्रह ईर्ष्या द्वेष वाद विवाद और विरोध घटाने के लिये किया गया है न कि उसको बढ़ाने के अर्थ, क्योंकि एक दूसरे की हानि करने से पृथक् रह परस्पर को लाभ पहुचाना हमारा मुख्य कर्म है"
इत्यादि इत्यादि

इतना ही नहीं प्रत्युत उपर्युक्त वाक्यों का आशय ऋषि ने आर्य्यसमाजके मौलिक नियमों में भी इस तरह वर्णन किया है। नियम संख्या नं० ४——

'सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये'
नियम संख्या नं० ८—

"अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिये"

पूर्वोक्त उद्धृत प्रमाणोंसे स्पष्ट विदित है कि मनुष्यमात्र के आर्य्यत्व और अनार्य्यत्वकी दृष्टिसे ही केवलआर्य्य (भले) और अनार्य्य (बुरे) दो भेद माननेवाले आर्य्यसमाज के प्रवर्तक और तदनुयायी आर्य्यसमाजका किसी भी काले पीले गोरे मतपन्थ मज़हब तथा देश और समुदाय से कोई विरोध नहीं है, भ्रान्ति से उसको चाहे कोई कुछ समझे। वास्तव में वह तो मनुष्य मात्र का शुभचिन्तक हित साधक और सच्चा सेवक है।

उसका मिथ्यात्व का खण्डन और यथार्थ का मण्डन केवल सत्याऽसत्य के निर्णय, सत्य के प्रकाश और असत्य के नाश, सत्य के ग्रहण और असत्य के त्याग, सत्य की वृद्धि

और असत्य के के ह्रास लिये सत्याग्रह मात्र से है। खंडन मंडन से केवल लोकहित और लोक उन्नति, परोपकार और सब का उद्धार, मत मतान्तरों के पारस्परिक विरोध को छुड़ाना और सब को एक धर्म पथ पर लाना, विरोधोत्पादक हठ दुराग्रह ईर्षा द्वेष, और दुःख मिटाना तथा प्रेम, मैत्री एकता और सुख को बढ़ाना आदि ही अभिप्रेत है। न कि किसी को हानि पहुंचाना व विरोध को बढ़ाना जैसा कि सत्यार्थप्रकाश के उद्धृत वाक्यों से स्पष्ट सिद्ध है। उसका विरोध किसी व्यक्ति वा समुदाय से कदापि नहीं, प्रत्युत केवल असत्य वा अधर्म से है। वह असत्य अन्याय रूप अधर्म चाहे मतों पन्थों और मज़हबों के विचार और आचार में हो, अथवा राजा प्रजा के व्यवहार और अधिकार में हो, उसका ह्रास * और सत्य धर्म का प्रकाश करके, शारीरिक,

*मनुष्य उसी को कहना कि मनन शील होकर स्वात्मवत् अन्यों के सुख दुःख और हानि लाभ को समझे अन्यायकारी बलवान से भी न डरे और धर्मात्मा निर्बल से भी डरता रहे। इतना ही नहीं किन्तु अपने सर्व सामर्थ्य से धर्मात्माओं की, चाहे वे महा अनाथ निर्बल और गुणरहित क्यों न हों, रक्षा उन्नति प्रियाचरण और अधर्मी चाहे चक्रवर्ती सनाथ महा बलवान् और गुणवान भी हो तथापि उसका नाश अवनति और अप्रियाचरण सदा किया करे। अर्थात् जहां तक हो सके वहां तक अन्यायकारियों के बल की हानि और न्यायकारियों के बल की उन्नति सर्वथा किया करे। इस काम में चाहे उसको कितना ही दारुण दुःख प्राप्त हो, चाहे प्राण भी भले ही जावें परन्तु इस मनुष्यपन रूप धर्म से पृथक् कभी न हो।

स० स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश

आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना ही आर्य्यसमाज का अन्तिम उद्देश्य है।

आर्य्य समाज अपने एकता के राग अलापने वाले मनुष्य मात्र की एक जाति मानने वाले सबको एक धर्म के केन्द्र पर केन्द्रित करने के इच्छुक लोक हित के लिये निरादर अपमान और दुःख को सहन तथा स्वार्थ सुख और जीवन को न्योछावर करने वाले प्राणदाता के प्राण भक्त निर्भीक धर्म योगी अपने पूज्य नेता का अनुयायी है। इस लिये यह सर्व प्रियता (हर्दिल अज़ीज़ी) की कोमल किन्तु भयंकर पिशाचन की परवाह न करता हुवा, निरादर अपमान और दुःख को तो सहन करता रहा और कर सकता है किन्तु असत्य और अन्याय रूप अधर्म से समझौता नहीं कर सकता। क्योंकि यह धर्म विरुद्ध नियमों और आज्ञाओं के सामने सिर झुकाना पाप समझता है।

यद्यपि आर्य्यसमाज संगतिकरण को धर्मानुकूल परम आवश्यक समझता है और संघसिद्धान्त का अनुमोदक है तथा "समान प्रसवात्मिका जाति" आकृतिजाति लिङ्गाख्या, के अनुकूल एक समान उत्पत्ति तथा एक प्रकार की आकृति रखने वाले मनुष्य मात्र की एक जाति मानने वाला आर्य्यसमाज सिवाय गुण कर्म स्वभावानुकूल वर्णों के एक मनुष्य जातिमें अनेक प्रकार के काल्पनिक जाति भेदों तथा अन्यदेश विरोधी देश सीमित आत्मीयता का समर्थक नहीं है। क्योंकि जिनसे एक मनुष्य जाति अनेक विभागोंमें विभक्त होकर परस्पर शत्रु बनजाय, जिनके प्रभावसे प्रभावित होकर अपने ही देश बन्धुओं तथा अन्यदेश में रहने

वाले एक ही मनुष्य जाति के अङ्ग अपने भाइयों पर मनुष्यत्व से गिरे हुए अत्याचार करें जो दुराग्रह और पक्षपात की मात्रा को बढ़ा कर अधर्म और अन्याय करावे वह धर्म विरोधी जाति बन्धन और देश सीमित जातीयता, आर्य्यसमाज के लिये ग्राह्य नहीं हो सकते।

शुद्ध वैदिक राजनीति भी आर्य्यसमाज के साधन से पृथक् नहीं हो सकती। क्योंकि निःश्रेयस और अभ्युदय की साधक धर्म नामी आत्मोन्नति में वह साधना एक अङ्ग है। अथवा यूं समझिये कि राजनीति भी धर्म उपासना ज्ञान तथा सभी विद्यारूप वेद मनुष्य के अन्तर्गत होने से वेद समुदाय रूप चारों आश्रमों के अपूर्व प्रचारक आर्य्य समाज के प्रवर्तित पूर्ण की कार्य माला (प्रोग्राम) से बाहिर नहीं मानी जासकती।

क्योंकि आर्य्यसमाज को यदि धर्म आर्य्य सभा द्वारा आत्मिक उन्नति के लिये आध्यात्मिक सिद्धांतों तथा सदाचार के प्रचार और उपस्थित सब मतवादों के सुधार की आवश्यकता है, तो शारीरिक तथा मानसिक उन्नति के लिये धार्मिक रंगमें रंगी हुई वैदिक शिक्षा प्रणाली के अनुकूल विद्या प्रचार तथा धर्म शून्य प्रचलित शिक्षा प्रणाली के सुधार के वास्ते विद्या-आर्य्य सभा और वास्तविक सामाजिक उन्नति के लिये अवैदिक राज प्रथा का सुधार कर वैदिक राजनैतिक आदर्श की स्थापनाके लिये राजआर्य्यसभा की भी अत्यंत आवश्यकता है। जो कि आर्य्य विद्यालयों के स्थापित तथा राजनीति के प्रचार द्वारा ही सम्भव है। यही कारण था कि आर्य्यसमाज के पूजनीय परिवर्तक ने इन सब साधनों को बम्बई में नाये

आर्य्यसमाज के विस्तृत नियमों में आर्य्यसमाज की कथित कार्यमार्ग में स्थान दिया है।" यथा इस समाज में स्वदेश के हितार्थ दो प्रकार की शुद्धि के लिये प्रयत्न किया जावेगा। एक परमार्थ दूसरे व्यवहार। इन दोनों का शोधन तथा सब संसार के हित की उन्नति की जावेगी। नियम संख्या नं० १७ "प्रति सप्ताह में एक दिन प्रधान मन्त्री और सभासद् समाज में एकत्रित हों। और सब कामों से इस कामको मुख्य जानें,। नियम संख्या नं १०,

"एकत्रित होकर सर्वथा स्थिर चित्त हो परस्पर प्रीति से प्रश्नोत्तर पक्षपात को छोड़कर करें। फिर सामगान हो परमेश्वर, सत्यधर्म, सत्यनीति, सत्योपदेश के विषय में ही बाजे आदि के साथ गान हो। और इन्हीं विषयों पर मन्त्रों का अर्थ और व्याख्यान हो।

नियम संख्या नं० ११,,

"इस समाज की ओरसे श्रेष्ठ विद्वान लोग सर्वत्र सत्योपदेश करने के लिये समयानुकूल भेजेजावेंगे।

नियम संख्या नं० १६,

"स्त्री और पुरुष इन दोनों के विद्याभ्यास के लिये पृथक पृथक आर्य्य विद्यालय प्रत्येक स्थान में यथा सम्भव बनाये जावेंगे स्त्रियों की पाठशाला में अध्यापिका आदि का सब प्रबन्ध स्त्रियों द्वारा ही किया जावेगा।। पुरुषों की पाठशाला में पुरुषों द्वारा। इससे विरुद्ध नहीं,।

नियम संख्या नं० २०,,

'(मतवाले) एक मत कभी नहीं हो सकता क्योंकि मनुष्यों के गुण, कर्म, स्वभाव, भिन्न भिन्न हैं।

(जिज्ञासु) बाल्यावस्था में एकसी शिक्षा हो सत्यभाषणादि धर्म का ग्रहण और मिथ्याभाषणादि अधर्म का त्याग करें तो एक मत अवश्य हो जावे,, ।

"जब सब विद्वान एक सा उपदेश करें तो एक मत होने में कुछभी विलम्ब न हो" सत्यार्थप्रकाश एकादश समुल्लास ब्रह्मसमाज वर्णन अन्तर्गत,

पूर्वोक्त नियमों में श्री स्वामी जी ने जहां नियम संख्या नं० १७ में स्वदेश और संसार की हित उन्नति के उद्देश्य से उनकी पारमार्थिक तथा व्यवहारिक शुद्धि के लिये नियम संख्या ११ में सत्यधर्म शब्द से पृथक सत्यनीति शब्द का उल्लेख करके स्थानिक प्रचार के साधन आर्य्यसमाज के साप्ताहिक अधिवेशनों में ईश्वर तथा धर्म सम्बन्धी उपदेशों के साथ निर्विवाद रूप से सत्यनीति (वैदिक राजनीति) के प्रचार का भी स्पष्टतया आदेश किया है । वहां नियम संख्या नं० १८ में अविद्या अन्य कुसंस्कारों से दूषित हुई जनता के सुधार के लिये देश देशांतर में प्रचारार्थ धर्मात्मा उपदेशकों के नियत करने तथा नियम सं० नं० २० और एकादश समुल्लास के उद्धरणों में आरम्भ से ही सरल हृदय बालकों के हृदय में धर्म तथा एकता का बीज बोने के लिये आर्य्य विद्यालयों के स्थापना की भी आज्ञा दी है । इसके अतिरिक्त आर्य्यसमाज के नियम सं० ३, "वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है वेद का पढ़ना पढ़ाना सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है, में वेद के किसी विशेष भाग अथवा वेद अन्तर्गत किसी विशेष विद्या के पठनपाठन और प्रचार का निषेध नहीं है । प्रत्युत वेदोक्त सर्वविद्याओं के पठनपाठन और

प्रचार की आज्ञा है इसीलिये सत्य सिद्धान्तों को प्रकाशित करते हुए ऋषि ने सत्यार्थप्रकाश में जहां मत मतान्तरों के मिथ्यात्व को प्रकाशित तथा कुरीतियों और कुनीतियों का खण्डन किया है वहां आदर्श वैदिक शिक्षा प्रणाली तथा वैदिक राजनीति का भी विशेष वर्णन करते हुए सिद्धांत रूप से अन्य देश अविरोधी स्वदेशीराज्य और स्वदेश भक्तिके महत्वको भी दर्शाया * है। क्योंकि स्वदेशीय राज्य अधिक अनुकूल और जननी जन्म भूमि का प्रेम नैसर्गिक है इन्हीं उपर्युक्त दो शब्दों को लेकर आर्यसमाज पर विद्रोह का मिथ्या लाञ्छन लगाने वाले दुर्भाव विपक्षियों को स्मरण रहे कि प्राणिमात्र के शुभचिन्तक तथा सार्वभौम धर्म के प्रचारक ऋषिवर का स्वदेशी राज्य और स्वदेश-भक्ति की प्रशंसा करने का यह कुत्सित अभिप्राय कदापि

---

* कोई कितना ही करे जो स्वदेशीय राज्य होता है वह सर्वोपरि उत्तम होता है अथवा मत मतान्तर के आग्रह रहित अपने और पराये का पक्षपात शून्य प्रजा पर पिता माता के समान कृपा न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य पूर्ण सुखदायक नहीं है, परन्तु भिन्न २ भाषा पृथक् २ शिक्षा अलग २ व्यवहार का विरोध छूटना अति दुष्कर है बिना इसके छूटे परस्पर का पूरा उपकार और अभिप्राय सिद्ध होना कठिन है। स० ८ समुल्लास

स० ११ समुल्लास ब्रह्म समाज के वर्णन में "जिस देशके पदार्थों से अपना शरीर बना अबभीपालन होताहै आगे होगा उसकी उन्नति तन मन धनसे सब जने मिलकर प्रीतिसे करें।

नहीं हो सकता कि इस से अन्य देशवासियों से घृणा तथा विरोध उत्पन्न हो। (देखो सत्यार्थ प्रकाश की भूमिका—

"यद्यपि मैं आर्य्यावर्त्त देश में उत्पन्न हुआ और बसता हूं तथापि जैसे इस देश के मत मतान्तरों की झूठी बातों का पक्षपात न कर यथा तथ्य प्रकाश करता हूं वैसे ही दूसरे देशस्थ वा मतोन्नति वालों के साथ भी वर्तता हूं।

जैसा स्वदेश वालों के साथ मनुष्य उन्नति के विषय में वर्तता हूं वैसा विदेशियों के साथ भी तथा सब सज्जनों को वर्तना योग्य है")

प्रस्तुत उन्नति के यथार्थ साधन अन्यदेश अविरोधी स्वराज्य और स्वदेश भक्ति के आवश्यकता दरसाने का प्रयोजन भी संसार के हितार्थ केवल सत्य का प्रकाश करना ही था। क्योंकि यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त भी वैदिक ही है। १ देखो तो यह है कि

१ [illegible]

[illegible] राज्य [illegible]।

[illegible] मिश्र [illegible] होकर [illegible] [illegible] और चतुरों द्वारा पालन [illegible] राज्य [illegible] करें।

नमो मातृ पृथिव्यै नमो मातृ पृथिव्यै
इयन्ते राड्यन्तासि यमनो ध्रुवोऽसि धरुणः।
कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा॥

भावार्थ- हे मातृभूमे आप को हमारा बारम्बार नमस्कार हो, हे राजन तू जो हमारी मातृभूमी के नियमन और धारण करने के योग्य है कृषि को बढ़ाने और प्रजा के कल्याण तथा सब की पालना के लिये तुझको राजा बनाते हैं।

प्रजा तन्त्र राज्य ही सर्वोत्तम राज्य है तथा अन्य देश अविरोधी स्वदेश भक्ति से ही प्रत्येक देश की उन्नति द्वारा सर्वदेशों की सब प्रकार की उन्नति होकर संसार का उपकार हो सकता है ।

इसीलिये पूर्वलिखित बम्बई में बनाए नियम सं० नं० १७में श्रीस्वामीजी ने स्वदेश हितउन्नतिके साथ संसारकी हितोन्नति करना भी आर्य्यसमाज का उद्देश्य बतलाया है, जिससे साफ ज़ाहिर है। कि ऋषि दयानन्द ने जिस स्वदेशोन्नति को आर्य्य समाज की कार्य माला में रख कर स्वदेश भक्ति की प्रेरणा की है। वह स्वदेश भक्ति संसारकी उन्नतिकी बाधक कदापि नहीं हो सकती। क्योंकि जिस तरह प्रत्येक मनुष्य धर्म पूर्वक अपने माता पिता तथा परिवार का हितकारी अथवा मातृ पितृ भक्त होता हुआ भी स्वनगर और स्वदेशोन्नति का बाधक नहीं होता। प्रत्युत उसके परिवार के उसके नगर और देश का एक भाग होने के कारण एक प्रकार से वह स्वदेशोन्नतिमें भाग लेता है। उसी तरह एक धार्मिक व्यक्ति अथवा समाज स्वदेशभक्त होता हुआ भी उसके देश के संसार का एक भाग होने के कारण संसार की उन्नति का साधक होता है न कि प्रतिबन्धक और बाधक।

वह पक्ष पात मूलक स्वदेश भक्ति, स्वदेश भक्ति ही नहीं कहला सकती, जो कि स्वार्थान्ध करके अन्यों से घृणा और विरोध उत्पन्न करा कर स्वदेशोन्नति के मार्ग में कांटे बखेर दे अथवा स्वदेशोन्नति के विध्वंसक उत्पन्न कर दे। अतएव आत्मौपम्य का पाठ पढ़ानेवाला ऋषि तथा तदनुगामी आर्य्यसमाज किसी ऐसे स्वराज्य तथा स्वदेशभक्ति का समर्थक कदापि नहीं है कि जो एक समुदाय को दूसरे समुदाय तथा एक देश को दूसरे देश से टकराने

वाले और अधर्म अन्याय तथा लालचके प्रे रक हों क्योंकि वह धर्म को ही श्रेय का एक मात्र साधन जानता है।

इतना ही नहीं प्रत्युत ऋषि दयानन्द ने स्वराज्य तथा स्वदेशभक्ति के साथ प्रजा भक्ति तथा राज्य भक्ति का भी विधान किया है। यहां तक कि श्रीमानों ने पक्षपात रहित न्याय धर्म की सेवा प्रजाओं में पितृवत राजा, और राज विद्रोहरहित राजभक्त होना प्रजा, का विशेषण माना है और उनको अपने माने हुए ५१ सिद्धान्तों मेंस्थान दियो हैं यथा "राजा उसीको कहते हैं जो शुभ गुण कर्म स्वभाव से प्रकाशमान् पक्षपात रहित न्याय धर्म की सेवा प्रजाओं में पितृवत् वर्ते, और उनको पुत्रवत् मान के उनकी उन्नति और सुख बढ़ाने में सदा यत्न किया करें। १७

"प्रजा उसको कहते हैं जो पवित्रगुण कर्म स्वभाव धारण करके पक्षपात रहित न्याय धर्म के सेवन से राजा और प्रजा की उन्नति चाहती हुई राजविद्रोह रहित राजा के साथ पुत्रवत् वर्ते।

इसमें स्पष्ट बतलाया गया है कि धर्मानुकूल आचरण से अपनी व राजा की उन्नति चाहने वाली राजविद्रोह रहित होकर राजा के साथ पुत्रवत् वर्तने वाली प्रजा कहलाती है क्या इस मन्तव्य के रखने वाले ऋषी और उसको शिरोधार्य्य करने वाले आर्य्यसमाज के कभी स्वप्न में भी राजविद्रोह का भाव आ सकता है। अथवा नियम संख्या नं ७— "सब से प्रीति पूर्वक धर्मानुसार यथा योग्यवर्तना चाहिये"।

के निर्माता और उसके मानने वाले के हृदय में अधर्म मय विद्रोह की कभी भावना हो सकती है ? कदापि नहीं। यह

विद्रोह का दोष केवल आर्यसमाज के क्षुद्राशय विपक्षियोंका मिथ्यारोप है। अथवा प्रत्येक गतिशील और समाजसुधारक व्यक्ति तथा संस्था में राज विद्रोह की गन्ध पाने वाले अपने पापों से भयभीत स्वार्थी पापात्माओं की उपजमात्र है क्योंकि किसी व्यक्ति अथवा समाज की ठीक जांच उसके उद्देश्यों उद्देश्य के साधनों तथा काम से हो सकती है। यदि उसके भाव कुत्सित, और काम केवल स्वार्थ साधक और संसार के लिये हानि कारक हों तब तो वह पतित और नीच है, और यदि उसके भाव उत्तम और काम संसार के लिये वास्तविक उपकारक हों तो उस व्यक्ति और समाज के महान होने में कोई सन्देह नहीं।

इन सिद्धान्तानुकूल आर्यसमाज के उद्देश्य (संसार का उपकार करना) और उद्देश्य प्राप्ति के साधन (धर्म) के पवित्र और महान होने में तो कोई सन्देह [illegible] किन्तु उस [illegible] क्या [illegible] स्वाध्याय [illegible] ग्रन्थ [illegible] ([illegible]) [illegible] आर्यसमाज और उसके प्रवर्तक ऋषि [illegible] मतावलम्बियों के अन्धकार को [illegible] के लिये वैदिक धर्म के सत्य सिद्धान्तों और [illegible] का प्रचार तथा अधर्म रूप असत्य सिद्धान्तों को निराधार और निःसार सिद्ध किया तो जगत के कल्याण के लिये। यदि बाल विवाह आदि कुरीतियों कुनीतियों कुप्रथाओं कुसंस्थाओं का विरोध और षोडश संस्कारों का सुबोध किया तो देशोद्धार के लिये। अगर मद्य मांसाहार तथा वेश्यानाच आदि

दुराचार का खण्डन करके सदाचार का मण्डन किया तो समाज सुधार के लिये । यदि वर्ण आश्रम सुधार तथा पतित उद्धार किया अथवा विद्यालय अनाथालय औषधालय आदि बनवाये तो परोपकार के लिये यदि ब्रह्मचर्य रक्षा तथा स्त्री शिक्षा का प्रचार किया तो लोक हित के लिये यदि वैदिकतत्वों, आत्मचिन्तन, आत्मनिर्णय आत्मसम्मान, आत्मावलम्बन आत्मरक्षण, स्वतन्त्रता, बीरता, निर्भयता आदि उन्नति के मौलिक हेतुओं तथा यथार्थ साधनों का पाठ पढ़ाकर निर्जीवों को सजीव बनाने का यत्न किया तो सबके कल्याण के लिये, यदि सेवा का व्रत धारण करके सेवक मण्डलियों द्वारा उत्सवों तथा आपत्तिकाल में अपने आराम और दुःख की परवाह न करते हुए सर्वसाधारण की सुख सिद्धि और दुःख निवृत्ति के लिये सामाजिक सेवा की तो दूसरों के श्रेय के लिये। इत्यादि इत्यादि केवल लोक हित के कार्यों में प्रवृत्त आर्य्य समाज के असली स्वरूप को न समझ कर सादगी से अथवा अपने किसी दुर उद्देश्य की सिद्धि के लिये कुटिलता से उस के वास्तविक स्वरुप के विरुद्ध उसकी स्थिति को कथन करना ठीक नहीं है। प्रत्युत सर्वसज्जनों के लिये उचित है कि आर्य्यसमाज के महान उद्देश्यों उसके पवित्र साधनो, सर्वतन्त्र सिद्धान्तों और परोपकारी कामों को दृष्टि में रख उसमें प्रविष्ट होकर अथवा सहायता देकर अपने और संसार के लिये कल्याण कारी बनें।

इतिशम् ।

समर्पणम्

जिस प्रातःस्मरणीय परम पूज्य देवता के दिव्य गुणयुक्त प्रकाशित किये सत्यार्थ प्रकाश के प्रकाश में मैंने आर्य्यसमाज की स्थिति का उल्लेख किया है जिसके निर्धारित वेदानुकूल सार्वजनिक नियमों तथा अध्यात्मिक आधिभौतिक आधिदैविक कर्म परायणता के पथ प्रदर्शक उपनियमादि शुद्ध अनमोल रत्नों की इस विषय सम्बंधी आशा को आर्य्यजनता के सम्मुख रक्खागया है उसी त्रिकाण्ड वेद के अद्वितीय प्रचारक अपने पूजनीय आचार्य ऋषि दयानन्द के पवित्र चरणों में इस पुस्तक को सादर समर्पण करता हूं।

ज्ञानचन्द

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
१	६	आर्यन्वृद	आर्य्यवृन्द
३	१६	अन्याऽन्य	अन्योन्य
४	२१	भौमि	भौम
५	१६	में	से
६	११	उद्येश्य	उद्देश्य
६	२३	तथाप	तथापि
७	४	औन	और
७	१०	अभुदय	अभ्युदय
७	१२	पनतजलि	पतंजलि
७	१३	भोगाअपवर्गार्थं	भोगापवर्गार्थं
७	१५	यतोऽअभ्युदय	यतोभ्युदय
७	१८	ऋिष	ऋषि
८	१५	श्रृष्टि	सृष्टि
१२	"		

१८	१७	तद्जन्य	तज्जन्य
१६	२५	येविद्या	येऽविद्या
१६	२६	ऊ	उ
१६	”	ॐ	ॐ
२१	१७	व्यसाइयों	व्यबसाइयों
२१	१८	संप्रादाओं	संप्रदाओं
२५	१२	()	बाद भी वेद
२८	७	ढुष्टों	दुष्टों
३२	२	सद्धर्मः	सधर्मः
”	१०	गाग्णु	गौण
३३	२०	नहों	नहीं
३४	११	शारीक	शारीरिक
		—धैवं	वसुधैव

* ओ३म *

महर्षि दयानन्द

के

मिशन कां कथाओ

लेखक:—

गंगाराम उबाना,

भू० पूर्व मन्त्री, आर्य्य प्रतिनिधि सभा, राजस्थान व मालवा

व भू० पूर्व प्रधान, आर्य्य समाज, नसीराबाद आदि ।

प्रकाशक:—

ब्रह्मचारी ऋषिवर उबान',

नसीराबाद (राजपूताना)

मिलने का पता—

पं० बृजलाल शर्मा, मदारगेट अजमेर ।

द्वितीया वृत्ति } सन् १९३३ ई० { मूल्य)॥।

❀ ओ३म् ❀

महर्षि दयानन्द के मिशन को बचाओ !

आर्य्य भ्राताओ ! यह अत्यन्त हर्ष का विषय है कि इस वर्ष पूज्यपाद महर्षि दयानन्द जी सरस्वती की मृत्युञ्जय अर्द्धशताब्दी मनाने का शुभ अवसर हम लोगों को प्राप्त हुआ है। उस महर्षि ने जो २ उपकार साधारणतया समस्त संसार पर और विशेषतया इस देश पर किये हैं वे थोड़े में नहीं गिने जा सकते। इस देश की जनता ही नहीं वरन विदेशीय विद्वान भी उनके कितने आभारी हैं उसका नमूना निम्न पत्र से जो उनको पाताल देश (अमेरिका) से ५५ वर्ष पूर्व लिखा गया था ज्ञात होता है जिसका कुछ अंश इस प्रकार है:—

Broodway,
New york. 1878.

Blessed is the soil where you are preaching & teaching the devine wisdom. Permit us that we may attribute you as our father and teacher and should do such works that we may deserve your kindness We are like a child ignorant of Vedic philosophy. Teach us O, dear Swami ! so that we may explain about the Arya samaj to the public. We are your desciples and ready to obey your commands

(From a letter to Swami Dayanand Saraswati from Theosophical Soceity America.)

अर्थ:—अहो भाग्य उस भूमि के है जहां आप ईश्वरीय ज्ञान का प्रकार कर रहे हैं तथा शिक्षा दे रहे हैं। हमें आज्ञा दीजिये कि आपको अपना पिता तथा गुरु कहकर पुकारें और ऐसे कार्य

करें जिनसे आपके कृपापात्र बन सकें। हम तो वैदिक फिलासफी से बच्चों के समान अनभिज्ञ हैं। ऐ पूज्य स्वामी! हमें शिक्षा दीजिये कि हम यहां की (पाताल देश की) जनता को आर्य्य समाज के सम्बन्ध में व्याख्या कर सकें। हम आपके शिष्य हैं और आपकी आज्ञायें पालन करने को तैयार हैं।

यह ऋषि दयानन्द को अमेरिका की थियासाफिकल सभा से प्राप्त हुए पत्र का एक अंश है। एक अमेरिका का ही क्या, जर्मनी इङ्गलैण्ड, यूरोप और एशिया के विद्वानों ने उस महर्षि के उपदेशों और कार्यों की प्रशंसा मुक्तकण्ठ से की है।

महर्षि दयानन्द ने अपने जीवन में जो कार्य किये उन सबकी महत्ता होते हुए भी हम उनके एक कार्य की विशेषता मानते हैं और वह है –

"ईश्वर पूजा-प्रचार"

बाल्यकाल को पूरा करने पर जब युवक मूल शङ्कर (यह स्वामीजीका बालपने का नाम था) ने देखा कि समस्त संसार ईश्वर पूजा को छोड़कर मूर्ति-पूजा, जड़ पूजा, वृक्ष पूजा आदि में लग रहा है तो उसने घरबार और संसार के सुखों को लात मार कर अपने जीवन का ध्येय बनाया कि संसार को जड़ पूजा से हटाकर ईश पूजा में लगा देवे और उसने मृत्युपर्यन्त इस कार्य को अनेक सङ्कटों के आने पर भी बड़े परिश्रम से किया।

आर्य्य भ्राताओं! विधाता की लीला बड़ी विचित्र है। मनुष्य करना कुछ चाहता है और हो कुछ जाता है। देखिये अहिंसा प्रचारक महात्मा बुद्ध के अनुयायी मांस भक्षी बन गये।

कौन जानता था कि जिस महात्मा ईसा ने लोगों को जड़ पूजा से हटा कर ईश्वर उपासना की ओर प्रेरित किया उसी के शिष्य उसकी मृत्यु के पश्चात् पुनः मूर्ति पूजा में फंस गये (यह इशारा रोमन केथलिक ईसाइयों की ओर है) और भी देखिये जिस हजरत मोहम्मद ने मूर्ति पूजा का घोर विरोध किया क्या कोई ख्वाब भी लेता था कि उन्हीं के अनुयायी ताजियों और कब्रों को पूजने लग जांयगे। किसी ने अंग्रेजी में ठीक कहावत बनाई है कि History repeats itself अर्थात् इतिहास की पुनरावृत्ति होती ही रहती है। जिस प्रकार महात्मा बुद्ध, हजरत ईसा और मोहम्मद साहब के अनुयायी गुमराह होकर उनके मुख्य उपदेश से दूर जा पड़े वही दशा महर्षि दयानन्द के अनुयाइयों की भी होने वाली है। मेरे इन शब्दों को सुनकर आर्य्य भाई चौंक पड़ेंगे और कदाचित मेरे इस कथन को प्रलाप कहने लग जावें। भाइयों चौंकने की और आश्चर्य की कोई बात नहीं। जरा ध्यान से सुनिये। अजमेर से प्रकाशित दयानन्द अर्द्ध शताब्दी महोत्सव समाचार ता० ९–१–३३ में ज्ञात हुवा है कि स्वामीजी के बाग में (जहां उनकी अस्थियाँ गड़ी हुई बतलाई जाती हैं) एक यज्ञशाला बनवाने का विचार हो रहा है। महर्षि की अस्थियों पर यज्ञशाला बनवाई जायगी यह समाचार सुन कर कई आर्य्य भाई इसको भविष्य में दयानन्द पूजा का साधन सोचकर इस के विरुद्ध सत्याग्रह करने का विचार करने लगे हैं। मैंने जब यह समाचार पढ़ा तो मुझे अपने उस लेख की स्मृति हो उठी जो मैंने सन् १९१७ में प्रयाग से प्रकाशित "नवजीवन" मासिक पत्र में "आर्य्य समाज में क़ब्र परस्ती" शीर्षक से लिखा था जिसमें

दर्शाया गया था कि आर्य्य समाज में समाधि-पूजा वा कब्र परस्ती का बीज अजमेर में बो दिया गया है और इस बीज का शीघ्र विनाश कर देना चाहिये अन्यथा भविष्य में इस भूल का मावजा आर्य्य समाज को सिद्धान्त रूप में देना पड़ेगा। मेरे उक्त लेख का उस समय कई विद्वानों ने समर्थन भी किया था। हर्ष है कि मेरे पुराने लेख संग्रह (Cuttings File) में वह लेख अब भी जरा-जीर्ण अवस्था में सुरक्षित है। ऋषि की अस्थियों की रक्षा करने करने व उनपर किसी प्रकार की स्मृति बनवाने से जो २ हानियां होगी उनको दर्शाने के लिये मैं अपने उस प्राचीन लेख को जनता के ज्ञातार्थ उद्धृत करता हूँ जो इस प्रकार है:—

आर्य्य-समाज में क़ब्र परस्ती

(ले० श्रीयुत गंगारामजी उबाना)

"आर्य्य समाज के ऐतिहासिक नगर और राजपूताने की राजधानी अजमेर में आनासागर की घाटी के निकट पुष्कर की सड़क पर एक बाग़ है जो श्रीमान् राजाधिराज सर नाहरसिंहजी वर्म्मा बहादुर के० सी० आई० ई० शाहपुराधीश ने परोपकारिणी सभा को दान दिया था। यह बाग़ कुछ काल तक "स्वामीजी का बाग़" के नाम से प्रसिद्ध था। अब ब्रह्मचर्याश्रम नाम से पुकारा जाता है। सन् १९१२ ई० में श्री० स्वामी दर्शनानन्दजी सरस्वती ने यहाँ पर साधु आश्रम खोला था, पर वह एक वर्ष भी न चलने पाया।

× × ×

श्री० स्वामी दर्शनानन्दजी महाराज से साक्षात् मिलनेवाले

सज्जन जानते हैं कि उक्त स्वामीजी की महर्षि दयानन्द में अत्यधिक श्रद्धा थी, और होनी भी चाहिये क्योंकि उन्होंने महर्षि के वैदिक सिद्धान्तों के तत्त्व को और उन के कार्य के वास्तविक महत्व को जाना हुआ था ।

यह एक निश्चय सिद्धान्त है कि केवल परमेश्वर ही निर्भ्रान्त और सर्वज्ञ है। और जीव सभ्रान्त और अल्पज्ञ है। इस सिद्धान्त के आश्रय से यदि हम यह कहें कि स्वा० दर्शनानन्दजी ने उपरोक्त अत्यधिक श्रद्धा के कारण जहाँ बहुत से उत्तम व लोकोपकारी काम किये वहाँ उसी (अत्यधिक श्रद्धा) के कारण उनके हाथ से एक भूल का कार्य्य भी हो गया तो किसी को चौंकना न चाहिए।

स्वामी दर्शनानन्द जी ने भूल की और इतनी बड़ी और बारीक भूल की कि जिसका फल सुदूर भविष्य में प्रकट होगा। यह प्रकृति का नियम है कि भूल कभी क्षमा नहीं की जाती। अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम।' अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के कर्मों के फल अवश्य भोगने पड़ते हैं। यह भूल भी क्षमा न की जायगी और उसका भरना (मावजा) आर्य्यसमाज को अपने सिद्धान्त रूप में देना पड़ेगा।

पाठको ! कदाचित आप उत्सुक होंगे कि ऐसी क्या भूल है जिसके वर्णन के पूर्व ही इतनी बड़ी पुष्टि की जा रही है। लीजिये, हम बतलाये देते हैं कि अजमेर नगर में शाहपुराधीश के दिये हुए बाग़ में सन् १९१२ ई० में स्वा० दर्शनानन्द जी महाराज ने महर्षि दयानन्द जी की अस्थियों पर समाधि बना डाली। सुनते हैं इस समाधि में महर्षि की अस्थियें, उनके बनाये

हुये ग्रन्थ और वर्तमान काल के कुछ सिक्के एक ताम्र—घट में बन्द करके रक्खे गए हैं और उस पर अष्ट–कोण यज्ञ–शाला बनवाई गई है जिस को यज्ञशाला य यज्ञ वेदी के नाम से पुकारते हैं। हमने जब यह बात पहिले सुनी तो कुछ काल तक विश्वास ही न किया क्योंकि हमारा विश्वास था और अब भी है कि आर्य्यसमाज सहसा इतनी बड़ी भूल नहीं कर सकता। फिर निश्चय रूप से मालूम होने पर हम को बड़ा दुःख हुआ।

अब तो आर्य्य भाइयों ने इस समाधि पर तीन सहस्र रुपये के अनुमान लागत की छतरी बनवाने का निश्चय कर लिया है। इस छतरी का काम कुछ काल में आरम्भ हो जायगा और इस की रही सही कसर यों पूरी होकर शनैः २ यह एक सर्वाङ्ग सम्पूर्ण समाधि हो जायगी।

हम समाधि–पूजा (जिसको उर्दू भाषा में क़ब्र-परस्ती कहते हैं) को मूर्ति पूजा का रूपान्तर ही समझते हैं। अतः हमने सोचा कि पवित्र आर्य्य समाज में भी अब मूर्ति पूजा का बीज वपन हो गया। हम इस काम को आर्य्य समाज की जड़ के लिये कुल्हाड़ी समझते हैं पर कई सज्जन इससे कुछ भी हानि न समझते होंगे, अतः अब हम प्रश्नोत्तर रूप में बतलायगें कि यह काम वैदिक सिद्धान्त और महर्षि के उद्देश्यों के कितना विरुद्ध है।

प्रश्न—क्या समाधि बनाना वैदिक सिद्धान्त के विरुद्ध है ?

उत्तर—हाँ, विरुद्ध है। महर्षि दयानन्द जी संस्कारविधि में लिखते हैं कि—

"जब तीसरा दिन हो तब मृतक का कोई सम्बन्धी श्मशान

में जाकर चिता से अस्थि उठाके उस श्मशान भूमि में कहीं पृथक् रख देवे बस इस के आगे मृतक के लिये कुछ भी कर्तव्य नहीं क्योंकि पूर्व (भस्मान्तं शरीरम्) यजुर्वेद के मन्त्र के प्रमाण से स्पष्ट हो चुका कि दाह कर्म और अस्थि संचय में पृथक्, मृतक के लिये दूसरा कोई भी कर्म कर्तव्य नहीं है।"(पृष्ठ २७८)

प्रश्न—महर्षि के "चिता से अस्थि उठा के उस श्मशान भूमि में कहीं पृथक् रख देवे" इन शब्दों से क्या समाधि बनाने का भाव नहीं निकलता ? यदि नहीं तो यह अस्थि संचय क्यों लिखा है ?

उत्तर—इस वाक्य के "कहीं पृथक् रख देवे" यही शब्द सारा भाव बतला रहे हैं। "कहीं" शब्द अनिश्चित स्थान का बोधक है, "पृथक्" नाम अन्यत्र, अर्थात् श्मसान से कुछ दूर एकान्त स्थान में। और भी देखिये ऊपर के वाक्य में आया है कि मृतक का कोई सम्बन्धी' इन शब्दों से यह भाव निकलता है कि एक ही आदमी जावे ताकि अस्थि रखने के स्थान की प्रसिद्धि आदि न हो। इन शब्दों से समाधि आदि बनाने का भाव बिलकुल भी नहीं निकलता। अस्थियों के पृथक रखने का यह कारण है कि ऐसा न करने से कुछ ही काल में श्मशान भूमि में अस्थियों के ढेर लग जावें और उन को गाड़ियों में भर भर कर उठाना पड़े।

प्रश्न—समाधि तो एक प्रकार का स्मारक है ! इस के बनवाने में क्या हानि है ?

उत्तर—समाधि यथार्थ स्मारक रहीं। देखो इस विषय में पं० गुरुदत्तजी एम० ए० अपने व्याख्यानों में कहा करते थे कि-

"ईंटपत्थर पर किसी ऋषि का नाम खुदवाने से उस ऋषि का स्मारक नहीं बन सकता । किन्तु यदि ऋषियों का स्मारक बनाना चाहते हो तो उन उद्देश्यों का प्रचार करके दिखाओ जिन का प्रचार वे जीवन में ऋषि स्वयं करते रहे ।" (आर्य्य धर्मेन्द्र जीवन पृ० २२४)

श्री० मास्टर आत्मारामजी स्मारक के विषय में 'आर्य्य धर्मेन्द्र जीवन में लिखते हैं कि:—

"संसार में प्रायः लोग कुवे, तालाव, सराय और मकान बनवाते हैं इसलिये कि ईंट और पत्थर उनके नाम को स्मरण कराते रहें । जो वस्तु जिसके नाम को स्मरण कराती रहे वह उसकी स्मारक समझी जाती है और इस दशा में आर्य्य समाज से बढ़कर स्वामी दयानन्द का कोई स्मारक नहीं हो सकता ।" (पृ० २२०)

"यदि आर्य्य समाज का नाम लेते ही स्वामी दयानन्द का स्मरण हो जाता है तो वास्तव में आर्य्य समाज से बढ़कर कोई स्वामीजी का चिन्ह नही हो सकता ।" (पृ० २२०)

"महर्षि के इस उद्देश्य को (जो कि वसयीत नामे में लिखा है) पूर्ण करने के लिये आर्य्य समाज विद्यमान है अतः आर्य्यसमाज के सिवाय कोई भी उसका सच्चा स्मारक नहीं हो सकता । आर्य्य समाज में सम्मिलित होने के लिये स्वयं महर्षि लोगों को बुला रहा है, आर्य्य समाज ऐसा सच्चा स्मारक है कि इस का बुनयादी पत्थर स्वयं महर्षि ने अपने हाथ से रखा है, इस यादगार की चर्चा··· ········(पृ० २२४)

उपरोक्त उद्धरण स्पष्ट बतला रहे हैं कि समाधि महर्षि का

स्मारक नहीं हो सकती, वरन् आर्य्यसमाज ही उस महात्मा का यथार्थ स्मारक है ।

प्रश्न—समाधि महर्षि का स्मारक नहीं तो न सही । इससे एक महात्मा की अस्थियें तो सुरक्षित रहेंगी ।

उत्तर—अस्थियें ही सुरक्षित रखने की आपको क्यों सूझी । उनके वस्त्र, दण्ड; कमण्डल, आदि भी सुरक्षित क्यों न रखे । बिना लाभ के किसी काम को बुद्धिमान लोग नहीं करते । अतः जब तक इस अस्थि रक्षा में आप कुछ लाभ न बतलावें तब तक यह कर्म कर्तव्य नहीं माना जा सकता ।

प्रश्न—खैर, समाधि बनवाने से हानि ही क्या है ?

उत्तर—इसमें तीन बड़ी हानियाँ हैं:—

(१) गीता में लिखा है कि —

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते ॥
(अ० ३ श्लो० २१)

अर्थ—उत्तम पुरुष जो २ आचरण करता है वही (आचरण) अन्य मनुष्य करते हैं । जिस बात का प्रमाण करता है संसार उसके अनुकूल बर्तता है ।

जब महर्षि की समाधि बन जाय तो कुछ काल में अन्य सन्यासी महात्माओं की भी बनने लगेंगी । फिर ग्रहस्थी क्यों पीछे रहने लगे वे भी छतरी आदि बनवावेंगे । जब इस प्रकार समाधियें छतरियें आदि बनने की प्रथा चल जायगी तो नगर-नगर और ग्राम २ में (Aryan Grave Yards) अर्थात् आर्य-क़ब्रस्थान नियमित रूप से बन जायँगे । इससे व्यर्थ बहुत सी

भूमि रुक जायगी जैसा कि सर टाम्पसन साहिब अपनी पुस्तक "मोडर्न क्रमेशन इटस हिस्टरी एन्ड प्रेक्टिस* में लिखते हैं:—

"थोड़े से स्थान में एक वर्ष में हजारों मुर्दे जलाये जा सकते हैं। क़ब्र स्थलों के निमित्त सदैव के लिये व्यर्थ भूमि रुक जाने से कृषि कर्म तथा नगरों की आबादी को हानि पहुँचती है।"

(२) इनके बनवाने में लोगों का जो द्रव्य और श्रम लगेगा सो विद्या प्रचार आदि शुभ कर्मों में न लग कर व्यर्थ जायगा। जिस प्रकार आज कल ईसाई, मुसलमान आदि लोगों के लक्षों, करोड़ों रुपये क़ब्रस्थान बनवाने में लगते हैं वैसे ही भविष्य में (यह प्रथा चल जाने पर) हमारे भी द्रव्य की व्यर्थ हानि हुआ करेगी।

(३) यह बात हम स्वीकार करते हैं कि इस समाधि को नमस्ते आदि द्वारा पूजा की विधि अभीतक नहीं आरम्भ हुई, परन्तु भारतवर्ष के लोगों में प्रकृति पूजा और मनुष्य पूजा की टेव पड़ी हुई है। भारत की जल-वायु में इस प्रकार की टेव (वा-कुटेव) के पौधे शीघ्र बढ़कर वृक्ष का रूप धारण कर लेते हैं। आर्य्य समाज में भी इस के जर्मस सर्वथा नष्ट नहीं हुए हैं। इस मनुष्य पूजा रूपी वृक्ष का एक (germs) बीज स्वामी दर्शनानन्दजी ने गुप्त रीत से अजमेर नगर में लगा दिया और यदि स्वा० दर्शनानन्द जी के सदृश दो-चार सन्यासी आर्य्य समाज में और हो जावें और इसकी जड़ में जल सिञ्चन करें तो कुछ काल

---

* Modern Cremation, its History and Practice, by Sir H. Thompson, F. R C. S., M. B., London

'(अनुमान दो चार सौ वर्ष) में एक ऐसा सुदृढ़ वृक्ष तैयार हो जावे जो सब प्रकार के आन्दोलन रूपी जल-वायु के झोकों को सहन करने में समर्थ हो।

देखिये, इस विषय में स्वयं महर्षि क्या सम्मति दे गए हैं। श्री० बाबू रामविलास जी शारदा म्युनिसिपल कमिश्नर अजमेर व भू० पूर्व प्रधान आर्य्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान कृत महर्षि के जीवन-चरित्र पृ० १०२ पर लिखा है कि:—

"मरने के पश्चात् समाधि या और कोई चिन्ह बनने-बनवाने के स्वामी अत्यन्त विरुद्ध थे, एक दिन उन्होंने कविराज श्यामलदास जी से कहा था कि मेरे मरने के पश्चात् मेरी अस्थियों को किसी खेत मे डाल देना। कोई समाधि या और कोई चिन्ह कदापि न बनाना। कविराज ने कहा कि महाराज! मैंने तो यह सोच रक्खा था कि अपनी एक पत्थर को मूर्ति बनवाऊँ और उसे किसी जगह रखवा दूं ताकि मेरे पश्चात् वह मेरा स्मारक समझा जावे। स्वामी जी ने तुरन्त कहा कि देखना कविराज जी! ऐसा भूल कर भी मत करना, बस यही तो मूर्ति पूजा की जड़ हुआ करती है।"

यह घटना सन १८८२ ई० में उदयपुर में हुई थी।

लीजिये अब तो स्वयं महर्षि के मुख से ही फैसला हो गया। हम महर्षि ही के आशय को लेकर कहते हैं कि जिस मनुष्य-पूजा वा गुरूडम का खण्डन करते हुए महर्षि ने आयु पूरी कर दी वही दो चार सौ वर्ष में आर्य्य समाज में आ बिराजेगी अर्थात् वह समाधि पुजने लगेगी और इसको लोग तीर्थ कायम कर देंगे। यही स्वामी दर्शनानन्दजी की भूल का मानजा है जो

आर्य्य समाज को सिद्धान्त रूप में देना पड़ेगा।

प्रश्न—क्यों जी! भूल तो की स्वा० दर्शनानन्दजी ने और मावजा भरना पड़े आर्य्य समाज को, सो कैसे?

उत्तर—जैसे एक देश का राजदूत (Ambassador) मन्त्री आदि भूल करें तो उसका फल सारे देश को भोगना पड़ता है इसी प्रकार स्वा० दर्शनानन्द जी आर्य्य समाज के मुख्य संन्यासी अर्थात् उच्च पदाधिकारी थे। उनकी भूल का फल आर्य्य समाज को भोगना ही पड़ेगा।

प्रश्न—कोई उपाय भी है जिससे सब आर्य्य समाज के सिद्धान्त की रक्षा हो?

उत्तर—प्रायश्चित्त ही इसका उपाय है।

प्रश्न—वह प्रायश्चित्त क्या है?

उत्तर—प्रायश्चित्त यह है कि आर्य्य समाज के सम्पूर्ण संन्यासी महात्माओं और विद्वानों की एक सम्मति करके महर्षि की अस्थियों को उस समाधि से निकाल उन्हीं की बनाई संस्कार-विधि के पृ० २७८ के लेखानुसार कहीं अनिश्चित अज्ञात स्थान में रख देनी चाहिये अथवा उन्हीं के कथनानुसार किसी खेत में डला देनी चाहिये।

प्रश्न—यह प्रायश्चित्त करे कौन?

उत्तर—भारत वर्ष की सम्पूर्ण आर्य्य समाजों की स्वामिनी 'श्रीमती सार्वदेशिक आर्य्य प्रतिनिधि सभा' इस काम को करे, अथवा 'परोपकारिणी' आदि सभा जो इस काम के करने का सामर्थ्य रखती हो वह करे। इस कार्य्य के पूरा करने में श्रीमान् राजाधिराज शाहपुराधीश को भी विशेष यत्न करना चाहिये।

पाठको ! इस विषय को हमने दीर्घकाल से विचार रक्खा था और यह प्रतीक्षा करते थे कि कोई विद्वान इस पर लेखनी उठावेगा । पर शोक ! महाशोक !! वैदिक सिद्धान्त के विरुद्ध और ऋषि दयानन्द की आज्ञा के विरुद्ध आर्य्य समाज में कार्य्य होते हुए भी ऋषि के किसी दुलारे ने कलम न उठाई । आज वर्षों का समय बीत गया पर सब चुपचाप हैं । इस प्रकार को व्यर्थ की बातें कहने वाले कि "हमारे पूर्वज बड़े थे-उच्च थे, पूज्य थे, संसार उनके चरणों पर सिर नवाता था, अतएव हम भी बड़े हैं, उच्च हैं, पूज्य हैं हमारे भी श्री चरणों पर माथा टेको इत्यादि" इन विषयों पर लम्बे २ लेख लिखने वाले, शास्त्रार्थ करने वाले और झगड़ने वाले तो बहुत हैं परन्तु महर्षि के बतलाए हुए वैदिक सिद्धान्तों का प्रचार और रक्षा करने वाले और उन पर कुर्बान होने वाले बहुत ही कम दीख पड़ते हैं ।

सब को शान्त देख कर अन्त में मुझे ही ऐसे निराले परन्तु अति आवश्यक विषय पर लिखना पड़ा । जैसे मेरे विचार थे वैसे आप सज्जनों के सन्मुख रख दिये । मुझे पूर्ण आशा है कि आप लोग मेरे भाव को ग्रहण करने का यत्न करेंगे । क्योंकि किन्हीं विशेष भावों से प्रेरित होकर वह लेख नहीं लिखा गया है । इस लेख में प्रश्नोत्तर भी केवल मेरी कल्पना ही हैं ।

अब आर्य्यविद्वानों और आर्य्य जनता को शीघ्र यत्न करना चाहिये, क्योंकि—

"ज्यों ज्यों भीजे कामरी, त्यों त्यों भारी होय ।"

शमित्योम

भ्राताओ ! इस आन्दोलन के प्रभाव से कहिये व ऋषि की आत्मा के श्राप से अस्थियों के ऊपर छतरी आदि बनवाने का कार्य उस समय ठंडा रह गया और वहां की इस समय की संस्था भी बन्द हो गई और जिस स्वामीजी के बाग को एक समय हमने चमन देखा था वह इतना उजाड़ हो गया कि वहां कोई यात्री तक ठहरना पसन्द न करे।

उक्त लेख लिखने के समय मुझे स्वप्न में भी यह विचार न आया था कि ऋषि के भक्त इतनी जल्दी इस समाधि को बनवाने की तय्यारी करेंगे और मुझे अपने जीवन काल में इसके प्रतिकार के लिये पुनः लेखनी उठानी पड़ेगी।

सज्जनो ! इस प्रकार ऋषि के सिद्धान्तों के विरुद्ध जड़ पूजा का आर्य्यों द्वारा बीज बोया जाना देख कर ऋषि की आत्मा जहां कहीं भी होगी दुःखित होकर चिल्ला चिल्ला कर कहेगी—"ऐ मेरे अन्ध भक्तो ! जिस जड़ पूजा का खण्डन मैंने आयुपर्यन्त किया, अज्ञान वश उसी का पुनः आरम्भ कर मेरे मिशन को फेल करने का क्यों प्रयत्न करते हो ? क्या इसी प्रकार सिद्धान्त विरुद्ध कार्य करते हुए मेरी अर्द्ध शताब्दी मनाना तुमको अभीष्ट है ? मैं तुम्हारे इस कार्य से अप्रसन्न हूँ। यदि तुम मेरे उपदेश किये हुए सिद्धान्तों का आर्य्य समाज से बहिष्कार करना चाहते हो तो मेरा नाम भी आर्य्य समाज से अलग कर दो।"

सामाजिक जगत में वावेला देखकर शान्तिस्थापना के लिये अजमेर के कोई कोई निरुत्तरदायी भाई कह देते हैं कि अस्थि स्थान अज्ञात है—डरने की कोई आवश्यकता नहीं। मैं मास्टर आत्मारामजी के समान अजमेर से दूर रहनेवाला व्यक्ति नहीं और

न कोई बात बिना प्रमाण सहज में माननेवाला हूँ। अब भी मेरा ९९ प्रतिशत विश्वास है कि ऋषि की हड्डियाँ उसी स्थान पर दफनाई हुई हैं। कुछ भी हो जब तक जनता में यह बात फैली हुई है कि अजमेर में स्वामीजी के बाग़ के बीच में बनी हुई यज्ञशाला के नीचे महर्षि की अस्थियाँ गड़ी हुई हैं तब तक पूरी पूरी सम्भावना है कि कभी न कभी भविष्य में लोग उसको पूजने लग जावें। समाचार पत्र पढ़ने वाली दुनिया जानती है कि जहाँ कहीं महात्मा बुद्ध की हड्डी का टुकड़ा भी मिलने का समाचार मिलता है तो चीन और जापान तक के लोग उसे पूजने के लिये उलट पड़ते हैं। कौन कह सकता है कि ऋषि दयानन्द की हड्डियां भी संसार में इसी प्रकार न पूजी जावेंगी।

ऐसी दशा में आवश्यक है कि उस यज्ञशाला के नीचे ऋषि की अस्थियां हों तो हटाकर संस्कार विधि में लिखे अनुसार अज्ञात स्थान में रख दी जावें और यदि वहाँ अस्थियाँ न हों तो श्रीमती परोपकारिणी सभा जो स्वामीजी की उत्तराधिकारिणी है जनता को प्रगट रूपेण विश्वास दिला देवे कि वहाँ कोई अस्थि नहीं है। अन्यथा ज्ञात आज्ञात भविष्य में आर्य्य समाज में उस समाधि वा यज्ञशाला की पूजा आरम्भ होने की पूर्ण सम्भावना है।

यह विषय मैंने आर्य्य विद्वानों व आर्य्य जनता के सन्मुख विचारार्थ व उचित कार्यार्थ रखा है॥

* ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः *

जीतमल लूणिया द्वारा सस्ता-साहित्य-प्रेस, अजमेर में मुद्रित।